भारतीय ग्रन्थमाला-संख्या ३

# हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ

प्रश्न जीवन के हमें भाते रहें,
जीत के शुभ गीत सब गाते रहें।
भाइयों को तत्व समझाते रहें,
विश्व सेवा हेतु अकुलाते रहें॥
—भारतीय आत्मा

भारतीय ग्रन्थमाला—संख्या १३

# हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ

लेखक

भारतीय शासन, नागरिक शिक्षा, देशी राज्य शासन,
और, भावी नागरिकों से, आदि के रचयिता

**भगवानदास केला**

प्रकाशक

**भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद**

मुद्रक

गयाप्रसाद तिवारी बी. काम., नारायण प्रेस, प्रयाग

ग्यारहवां संस्करण
२५०० प्रतियां

अगस्त १९५०

मूल्य
पौने दो रुपए

सुहृद्वर

श्री शंकरसहाय सकसेना

एम० ए०, साहित्य-रत्न

प्रिंसीपल, महाराणा कालिज, उदयपुर,

को सप्रेम समर्पित

# निवेदन

एक अंगरेज कवि ने कहा है कि मैं सोया तो मुझे मालूम हुआ कि जीवन एक सौन्दर्य है; पर मैं जागा तो मालूम हुआ कि जीवन एक कर्त्तव्य है। असल में जागृत व्यक्तियों, संस्थाओं तथा राष्ट्रों के लिए जीवन कर्त्तव्य-स्वरूप ही होता है। जागृत और स्वाधीन भारत-सन्तान को चाहिए कि राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में भरसक हिस्सा लें!

यह पुस्तक तीस वर्षों से—सन् १६१८ से—पाठकों की सेवा में उपस्थिति है। आरम्भ में इसका नाम 'भारतीय राष्ट्र निर्माण' था। तीसरे संस्करण (सन् १६३६) से इसका नाम और विषय 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' रहा है। इसके प्रत्येक नये संस्करण में आवश्यकतानुसार संशोधन किया गया है। भारत के स्वाधीन होने से पहले अधिकांश कार्यकर्ताओं का ध्यान राजनैतिक विषयों की ओर रहा। तीन वर्ष से देश स्वाधीन है। कुछ बातों में सुधार हो गया है। परन्तु इससे हमारी सभी समस्याओं का अन्त नहीं हो गया। पहले हम अपने विविध कष्टों के लिए विदेशी शासन को उत्तरदायी मानते थे; अब तो प्रत्येक समस्या को हल करने का भार स्वयं हम पर ही है। इस पुस्तक में विविध समस्याओं पर यथा-सम्भव प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इस संस्करण में 'विशाल भारत और प्रवासी भारतीय'—अध्याय बढ़ाया गया है। आशा है, यह पुस्तक पाठकों को सोचने-विचारने और अपना कर्त्तव्य पालन करने में बहुत मदद देगी।

विनीत

# विषय-सूची

## पहला खंड

### पहला परिच्छेद

### राष्ट्र-निर्माण



### दूसरा परिच्छेद

### भारत में राष्ट्रीयता



### तीसरा परिच्छेद

### राष्ट्रीयता के साधन



### चौथा परिच्छेद

### राष्ट्रीय भावों का प्रचार

आठवाँ परिच्छेद

## स्वास्थ्य-रक्षा



नवां परिच्छेद

## सदाचार



दसवाँ परिच्छेद

## संगठन और जाति भेद



ग्यारहवाँ परिच्छेद

## साम्प्रदायिकता



बारहवाँ परिच्छेद

## प्रान्तीयता

तेरहवाँ परिच्छेद

## आर्थिक समस्या; (१) भोजन



चौदहवाँ परिच्छेद

## आर्थिक समस्या, (२) कपड़ा



पन्द्रहवाँ परिच्छेद

## आर्थिक समस्या; (३) मकान

## १६—भारतीय संघ-निर्माण और नागरिक



## १७—देश-रक्षा



## १८—अखंड भारत



## १६--विशाल भारत और प्रवासी भारतीय

# पहला खंड

## पहला परिच्छेद

## राष्ट्र-निर्माण

*आओ, भारतीय ! भारत का राष्ट्र-भवन निर्माण करें।*
*दुखिया जननी-जन्मभूमि का मिल-जुल कर सब त्राण करें ॥*

*--कर्ण*

*प्रिय बान्धवो ! आलस्य अपना वेग खोना चाहिए।*
*कर्त्तव्य-पथ में शीघ्र अब आरूढ़ होना चाहिए ॥*
*जी-जान से बल-बुद्धि का उद्योग करना चाहिए।*
*राष्ट्र-निर्माणार्थ अब कटिबद्ध होना चाहिए ॥*

*—हनुमतप्रसाद जोशी*

हमें अपने देश की विविध राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करना है। इसके लिए पहले यह जान लें कि राष्ट्र ('नेशन') किसे कहते हैं, और उसका निर्माण किस प्रकार होता है, यानी वह किस तरह बनता है।

**मनुष्यों का संगठन; परिवार और वंश**--राष्ट्र बनाने से पहले, मनुष्यों को कई मंजिलें तय करनी होती हैं; उन मंजिलों के बारे में कुछ ज्ञान प्राप्त करने से राष्ट्र सम्बन्धी बातों को समझने में सुविधा होगी। मनुष्य अपने स्वभाव से ही समाज-प्रिय है। अकेले रहने की दशा में उसे अपना स्थान बड़ा सुनसान मालूम होता है। किससे बातें करे,

कैसे अपना जी बहलाए, ये प्रश्न उसके सामने आते हैं। अकेले, उसका मन नहीं लगता। फिर, अकेले रहने की दशा में उसे जंगली जानवरों का भी भय रहता है इसके अलावा उसकी तरह-तरह की जरूरतें हैं, उन्हें पूरा करने के लिए भी उसे समाज में रहना होता है। प्राचीन काल में मनुष्य का जीवन बहुत सरल और सादा था, उसकी ज़रूरतें कम थीं, तो भी उसे भूख-प्यास और सर्दी-गर्मी आदि तो लगती ही थी। उसे भोजन और पानी की ज़रूरत होती थी। इन चीज़ों का हर समय और हर जगह मिलना कठिन था। शिकार के लिए मनुष्यों को एक-दूसरे के साथ मिलकर, मंडली या टोली बना कर रहना पड़ा। पीछे पशु-पालन और खेती के लिए तो आदमियों को इकट्ठे तथा स्थायी रूप से एक जगह रहने की और भी अधिक ज़रूरत हुई।

धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ी मनुष्यों की ज़रूरतें भी बढ़ती गईं। अब तो उनके अकेले-दुकेले रहने की बात ही क्या, अकसर एक गाँव में भी मनुष्य की ज़रूरतें पूरी नहीं होतीं, उसे दूसरे गाँवों ही नहीं, दूर-दूर के नगरों या कस्बों से सम्बन्ध रखना होता है। कोई मनुष्य केवल अपने ही द्वारा पैदा की हुई चीज़ों से गुजारा नहीं कर सकता। उसे दूसरों से सहायता लेनी और उन्हें सहायता देनी ही पड़ेगी। इस तरह मनुष्यों का आपस में सम्बन्ध होना लाजमी है।

शुरू में मनुष्य का प्रेम अपने परिवार से होता है। जन्म लेने के समय से ही हरेक बच्चे का अपनी माता से, और कुछ समय बाद पिता से, सम्बन्ध हो जाता है। अच्छी तरह चलने-फिरने योग्य होने में उसे कई साल लग जाते हैं। अपना गुजारा करने की योग्यता तो आदमी में अपनी उम्र के एक-डेढ़ दर्जन वर्ष बिता देने पर आती है। इतने समय तक वह माता-पिता के आसरे रहता है। बड़ा होने पर स्त्री पुरुष का विवाह-सम्बन्ध होता है। इनकी सन्तान होती है। इस तरह नए-नए परिवार बनते रहते हैं।

अकसर एक परिवार दूसरे परिवार की चीज़ों का उपयोग करना चाहता है; इसलिए वह या तो उससे मित्रता करता है; या उस पर हमला करता है। मित्रता के लिए उससे मेल-जोल होता है। दूसरे पर हमला करने के लिए, अथवा दूसरों के हमले से बचने के वास्ते भी, परिवारों या वंशों का संगठन होता है और एक समूह में रहने वाले मनुष्यों की संख्या बढ़ती जाती है। पास-पास रहते हुए इन समूहों के आदमियों में एक दूसरे की सहायता करने का भाव बढ़ता जाता है। कभी-कभी इन समूहों में ऐसे आदमी भी शामिल हो जाते हैं, जो दूसरे वंशों या समूहों के हों। ये भी इससे मिलजुल कर रहने लग जाते हैं, और अंत में इनके ही हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों इन समूहों के मनुष्यों की संख्या तथा ज़रूरतें बढ़ती हैं, ये नए-नए गाँव या नगरों को बसाते जाते हैं। इस प्रकार एक समूह के आदमी के मित्र या सम्बन्धी कई-कई स्थानों में रहने लगते हैं और जुदा-जुदा गाँवों या नगरों के निवासियों का आपस में सम्बन्ध हो जाता है।

**जाति**—एक समूह के आदमियों का आपस में बहुत मेल-जोल होता है। जब वे कई पीढ़ियों तथा सदियों तक इकट्ठे एक ही प्रदेश में रहते हैं और आपस में उनका खान-पान तथा विवाह-सम्बन्ध होता रहता है तो उनका रहन-सहन एक खास तरह का हो जाता है। उनके दुःख-सुख, उनके स्वार्थ, उनके रीति-रिवाज, त्योहार, उत्सव और मेले आदि एक ही हो जाते हैं जब उनके जीवन में एक ऐसी विशेषता आ जाती है, जो दूसरे मनुष्य-समूहों में नहीं मिलती, तो वे अपनी एक विशेष सभ्यता खड़ी कर लेते हैं, पीढ़ियों तथा सदियों तक जातीय साहित्य और जातीय रीति-रिवाज द्वारा उस सभ्यता को बनाए रखते हैं, तथा उसकी उन्नति करते रहते हैं। वे समान हित तथा आदर्श की कड़ी में बंध जाते हैं। ऐसे मनुष्य-समूह को एक 'जाति' कहते हैं। धीरे-धीरे कई जातियाँ बन जाती हैं।

इस सम्बन्ध में जर्मन विद्वान् बलंशली ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक

'थियरी-आफ-दि-स्टेट' में यह भाव प्रकट किया है कि किसी जाति का मूल तत्व उस जाति की सभ्यता तथा उसका भीतरी संगठन है; और, उसकी दूसरी जाति से अलहदगी प्रायः उसकी सभ्यता की उन्नति से ही सूचित होती है, अर्थात् दो जातियों की सभ्यताओं की उन्नति में जितना अधिक अन्तर होता है, उतना ही वे अधिक जुदा-जुदा मानी जाती हैं।

'जाति' शब्द व्यापक अर्थ रखनेवाला है। समय के परिवर्तन से इसका अनर्थ हो गया है; अब इससे बहुत संकुचित अर्थ भी लिया जाता है। मिसाल के लिए, भारतवर्ष में आजकल ब्राह्मण क्षत्री, वैश्य और शूद्र उपजातियों को ही नहीं, इनकी अनेक छोटी-छोटी शाखाओं के लिए भी 'जाति' शब्द काम में लाया जाता है, जैसे गौड़ ब्राह्मण, माहेश्वरी वैश्य, अग्रवाल वैश्य, बढ़ई, लुहार आदि जाति। असल में इन सब के संगठित स्वरूप को एक जाति कहना चाहिए; ये सब आर्य जाति के अंग हैं।

**राष्ट्र** याद रहे कि आदमियों के किसी समूह को, केवल एक जाति होने से ही, 'राष्ट्र' नहीं कह सकते। जाति और राष्ट्र में बड़ा अन्तर है। किसी जाति में अकसर एक ही कुल या नसल के आदमी रहते हैं। बहुत मुद्दत तक पास रहने से जब इनमें अपने देश का, और राज्य की एकता का भाव मजबूत हो जाता है, तब ये लोग 'राष्ट्र' कहलाने योग्य हो जाते हैं। इस प्रकार राष्ट्र में शासन या राज्य का भाव होना लाज़मी है, जाति में यह बात नहीं होती। प्रत्येक जाति का राष्ट्र होना जरूरी नहीं है। राष्ट्र में जाति का होना अनिवार्य है, और एक राष्ट्र में एक-से अधिक जातियाँ भी हो सकती हैं। निदान, राष्ट्र आदमियों के उसी संगठित समूह को कहते हैं, जो भूमि के किसी निश्चित भाग पर एक शासन में रहते हुए अपने छोटे-बड़े सब हिस्सों की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और राजनीतिक हर तरह की तरक्की करने में लगा हो।

भूमि राष्ट्र का स्थायी या अचल भाग है। यह राष्ट्रीय शरीर के लिए ढांचे या पिंजर का काम देती है। इस शरीर को जानदार बनाने-वाली शक्ति जनता है। जनता ही राष्ट्र का प्राण है। इससे राष्ट्र में जनता का महत्व साफ जाहिर है। राष्ट्र निर्माण के विचार से जनता के सम्बन्ध में दो बातें खास तौर से ध्यान देने योग्य होती हैं:—संख्या और सामर्थ्य। बहुत छोटे-छोटे जन-समूहों से राष्ट्र नहीं बनता; और असमर्थ, अयोग्य या असंगठित मनुष्यों से भी काम नहीं चलता; चाहे उनकी संख्या कितनी ही बड़ी क्यों न हो।

मिल आदि कई लेखकों और राजनीतिज्ञों ने राष्ट्र की व्याख्या के सम्बन्ध में खुलासा लिखा है। उनका आशय यही है कि मानव समाज के किसी अंग को राष्ट्र उस दशा में कहा जाता है, जब उसके आदमी आपस में ऐसी सहानुभूति से मिले हुए हों, जो उनमें और ग़ैर आद-मियों में न हो; और उनकी यह चाह हो कि वे एक ही शासन में रहें और वह शासन स्वयं उनका हो, अथवा उनमें से ही कुछ लोगों का हो, दूसरों का नहीं। राष्ट्रीयता की यह भावना कई कारणों से पैदा हो सकती है। कभी-कभी इसका कारण यह होता है कि वे आदमी एक ही जाति या नसल के होते हैं। भाषा और धर्म की एकता से इसमें बहुत सहायता मिलती है। भौगोलिक एकता भी इसका एक खास कारण होता है। परन्तु सबसे बड़ा कारण राजनीतिक परम्परा की समानता होती है। राष्ट्रीय इतिहास, समान सामूहिक गौरव और अपमान, समान सुख और दुःख की याद, और समान भविष्य की आशाएँ—यह राष्ट्र-निर्माण की महत्वपूर्ण सामग्री होती है।

राष्ट्र के कहने से राज्य के ऐसे आदमियों से मतलब होता है, जिनका यह निश्चय हो कि हम अपने सारे समूह का भविष्य अच्छा बनाएँगे। हम अपने सामूहिक कार्यों की देखरेख खुद ही करेंगे; कोई दूसरी शक्ति उसमें दखल नहीं दे सकेगी। इन लोगों में आपस में अपने-पन का ऐसा भाव होता है कि एक का कष्ट सबका कष्ट समझा जाता है,

उसके दुख को दूर करने के लिए सब जी-जान से कोशिश करते हैं। किसी भी भय या लोभ द्वारा, एक आदमी दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए तैयार नहीं किया जा सकता।

राष्ट्र के मनुष्यों में भाषा, धर्म, जाति या संस्कृति आदि की बड़ी एकता होती है; उनमें सबसे बड़ी एकता भावों या दिलों की एकता होती है, जिससे जब एक अंग को कुछ कष्ट हो तो दूसरे सब अंग उससे सहानुभूति रखते हुए उसके दुःख को दूर करने को कोशिश करने लगें। राष्ट्र के आदमी भली भाँति जानते हैं कि हम सब एक ही मातृभूमि की सन्तान हैं—आपस में भाई-बन्धु हैं, दूसरों की सुख-दुःख में हमारा भी लाभ-हानि है। श्री० इन्द्र वेदालंकार जी ने 'राष्ट्रीयता के मूल मन्त्र' में लिखा है:—"जब एक जाति एक ही राज्य के नीचे रहते-रहते पुष्ट हो जाती है, जब उसके अवयव (अंग) मिल कर एक अवयवी को बनाने लगते हैं, तब वह राष्ट्र के रूप में परिणत हो जाती है। पैर में लगे हुए काँटे की कँपकपी जब सिर तक पहुँचने लगे, तभी कोई जाति 'राष्ट्र' नाम की अधिकारी (हकदार) होती है, इससे पूर्व नहीं। परिवार, वंश, जाति और, उसमें राज्य के आने के चिरकाल पीछे, 'राष्ट्र'—यह सामाजिक उन्नति का क्रम है।"

आम तौर से हम किसी ऐसी जाति को राष्ट्र नहीं कह सकते, जिसे राजनैतिक अधिकार न हों, और जिसपर दूसरों को हुकूमत हो। असल में जिस जाति में राष्ट्रीयता के भाव पूरी तरह मौजूद हों, उसे कोई पराधीन नहीं कर सकता; यदि संयोग से वह कभी दूसरों के चंगुल में आ भी जाय तो वह जी-जान से पराधीनता के जाल को तोड़-फेंकने की कोशिश करती है, और प्रायः जल्दी ही या कुछ देर में, इस कार्य में सफल हो जाती है। मतलब यह कि राष्ट्र बहुत समय तक पराधीन नहीं रह सकता।

**राष्ट्र-निर्माण और भारतवर्ष**—सन् १९४७ से भारत स्वतंत्र है। इसके दो भाग भारतीय संघ, और पाकिस्तान अलग-अलग

राज्य हैं। पहले के भारत का अधिकाँश भाग भारतीय संघ में है, और इसलिए इसे भारत भी कहा जाता है। उपर्युक्त विभाजन शासन की दृष्टि से हुआ है। भौगोलिक, आर्थिक आदि दृष्टि से यह सर्वथा कृत्रिम है। अस्तु, भारतवर्ष अब राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र है तथापि यहाँ की आर्थिक दुर्दशा एक खुला रहस्य है। हमारे कितने ही भाई दिन-रात घोर मेहनत करने पर भी भर पेट अन्न और शरीर ढकने योग्य कपड़ा नहीं पाते। उन्हें अपनी मानसिक उन्नति करने का अवसर ही नहीं मिलता। इसी तरह विदेशों में भी हमारा यथेष्ट आदर-मान नहीं होता। दक्षिण-अफ्रीका, और आस्ट्रेलिया आदि में हमारे प्रवासी भाई साधारण नागरिक अधिकारों से वंचित हैं, और बहुत दुःख और अपमान का जीवन बिताते हैं। इन बातों का इलाज हम भारतीय राष्ट्र का निर्माण करने पर ही अच्छी तरह कर सकेंगे।

भारतवर्ष को राष्ट्र बनने की जरूरत संसार-हित की दृष्टि से भी है। किसी संस्था की उन्नति होने के लिए यह जरूरी है कि उसका हरेक सदस्य उन्नत हो, और सब सदस्यों की आपस में सहानुभूति और सहयोग हो। इस तरह संसार-रूपी विशाल संस्था की काफी उन्नति तभी होगी, जब उसका हरेक हिस्सा खुद उन्नत और स्वाधीन होते हुए एक-दूसरे की भरसक सहायता करेगा; गोरी और काली तथा योरपीय और एशियाई जातियों का भेद न होगा। जो जातियाँ निर्बल और पराधीन हैं, वे संसार की सुख-शान्ति और उन्नति में बाधक हैं। इसलिए हरेक जाति को राष्ट्र बनाना और संसार के हितसाधन में योग देना चाहिए। 'वसुधैव कुटुम्बकम' की उदार नीति वाले भारतवर्ष का तो राष्ट्र बनना और भी ज्यादा जरूरी है।

**राष्ट्रीयता के सदुपयोग की आवश्यकता** दूसरी बहुत सी बातों की तरह राष्ट्रीयता का भी दुरुपयोग हो सकता है। अनेक आदमी इसके दुरुपयोग का विचार करके इस पर विविध आक्षेप किया करते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि 'राष्ट्रीयता अपने क्षेत्र से बाहर

की दुनिया को प्रतिद्वन्द्वी समझती है; दूसरे राष्ट्रों के नागरिकों से शत्रु या दुश्मन की तरह व्यवहार करना सिखलाती है, अकसर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र या जाति को दबाने, उसका शोषण करने या उस पर हमला करने की तैयारी करता है।'

लेकिन यह तो राष्ट्रीयता का दुरुपयोग है। हमें राष्ट्रीयता के सच्चे स्वरूप का ध्यान रखना चाहिए, जो अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीयता का मतलब यह है कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझे; दूसरे के हित में बाधा न डाले; उसके ज्ञान, अनुभव और शक्ति से उचित लाभ उठावे। अन्तर्राष्ट्रीयता का यह मतलब कभी नहीं है कि कोई देश दूसरे राष्ट्र द्वारा अपनी भूमि, जनता, सम्पत्ति या संस्कृति आदि पर आक्रमण होने की दशा में अपनी रक्षा न करे और उसके साम्राज्यवाद को चुपचाप सहता रहे। अन्तर्राष्ट्रीयता का ध्येय या मकसद तभी पूरा हो सकता है, जब हरेक देश बलवान हो; वह साम्राज्यवादी देश के अत्याचारों का भली-भांति सामना कर सके। इसके लिए यह जरूरी है कि हरेक देश स्वाधीन हो और राष्ट्रीय भावों वाला हो। इतिहास इस बात का गवाह है कि राष्ट्रीयता के भाव ने नष्ट होती हुई जातियों को मृत्यु से बचाया, उन्हें फिर महान और बलवान बनाया। अन्यायी या खुदमुख्तार शासन से छुटकारा पाने के लिए प्रजा को राष्ट्रीयता से बढ़ कर कोई सहारा नहीं मिला है। सिकन्दर; सीजर, लूई, नेपोलियन, और जार आदि की आसुरी शक्तियों का सामना राष्ट्रीयता के सहारे ही अच्छी तरह किया गया है। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीयता के रास्ते में, राष्ट्रीयता बाधक न होकर सहायक ही होती है।

अस्तु, हमें चाहिए कि राष्ट्रीयता के आदर्श का ध्यान रखते हुए हम इसका सदुपयोग ही करें। हमें उस राष्ट्रीयता को अपनाना है, जिसका आदर्श विश्वबन्धुत्व हो, जिसे म० गांधी ने अपनाया, और पं० जवाहरलाल नेहरू और विनोबा भावे आदि अपनाए हुए हैं।

——

## दूसरा परिच्छेद

# भारत में राष्ट्रीयता

—:-:—

*उठो भाइयो! स्वावलम्बी बनें, सभी शीघ्र राष्ट्रीयता में सनें।*
*स्वदेशाभिमानी सुज्ञानी बनें, जगत में किसी के न आगे नमें॥*

*—हनुमत्प्रसाद जोशी*

**भारत में राष्ट्रीय भावों की प्राचीनता**—यहां राष्ट्र और राष्ट्रीयता की विवेचना वैदिक साहित्य तक में पाई जाती है। इस प्रकार यहाँ राष्ट्र के विराट स्वरूप का विचार उस प्राचीन काल से है, जब कि आजकल के, सभ्यता का घमंड करनेवाले बहुत से राष्ट्रों का जन्म भी नहीं हुआ था। बहुत मुद्दत से भारतवर्ष के निवासी उत्तर से दक्षिण, और पूर्व से पश्चिम, सारे देश को एक भू-खंड मानते हैं। हिन्दुओं का अनगिनत वर्षों से किया जानेवाला पूजा-पाठ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। संकल्प में हिन्दू सारे देश को श्रद्धा से याद करता है। स्नान के समय हिन्दू गंगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, सिंधु और कावेरी इन सात नदियों के नाम भक्ति-भाव से लेता है*, जो इस देश के किसी खास हिस्से को न होकर सारे देश में फैली हुई हैं। इसी तरह चारों धाम आदि के नाम प्राचीन हिन्दुओं की देश सम्बन्धी विशाल कल्पना जाहिर करते हैं। बौद्धों के मठ, आश्रम, विहार और स्तूप (टीले) भी किसी एक जगह न होकर भारतवर्ष भर में फैले हुए

---

* गंगे च यमुने चैव, कोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिंधु कावेरी, जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरू॥

हैं, और इस देश की एकता की याद करा रहे हैं। राम और कृष्ण केवल उत्तर भारत वालों के ही पूज्य नहीं हैं, उनकी कथा का प्रचार हर जगह है। वेद, पुराण, श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण और महाभारत सब की सम्मिलित सम्पत्ति हैं। जन्म-मरण, विवाह-शादी की रीतिरस्म, और होली, दिवाली, श्रावणी, और दशहरे के त्योहार हर जगह मनाए जाते हैं। यही कारण है कि इस जमाने में यहां राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी विचारों का ऐसी आसानी से प्रचार हो रहा है।

भावों और व्यवहारों की एकता से भारतवर्ष की, बहुत प्राचीन काल में, बड़ी उन्नति हो गई थी। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी विषयों में इस देश की शक्ति बढ़ी हुई थी। यही कारण था कि यहां समय-समय पर जो बहुत सी जातियाँ आईं, वे यहाँ के जन-समुदाय में हिलमिल गईं, और अन्त में यहाँ की ही हो गईं; अब यहां यूनानी, हूण, सीथियन आदि के अलग-अलग होने का पता नहीं लगता। हमला करनेवाले इस देश के मित्र और बन्धु बन गए। जीतने-वाले हार मान बैठे, उनकी सन्तान को भारत सन्तान कहलाने में गौरव या बड़प्पन मालूम हुआ। यह बात अनेक सदियों तक रही।

**मध्य-युग की स्थिति**—धीरे-धीरे हालत बदलती गई। सम्राट् अशोक के बाद यहां शासन-सत्ता अक्सर कमजोर आदमियों के अधिकार में रही। देश अलग-अलग हिस्सों में बँट गया, और हरेक प्रान्त के आदमी अपने आपको दूसरे प्रान्तवालों से जुदा समझने लगे। इस तरह जब मुसलमान यहां आए, भारतवर्ष की एकता घट गई थी, भारतीय समाज अस्वस्थ और रोगी था। उधर मुसलमानों में उत्साह और साहस था, और अपने नए धर्म के प्रचार के लिए खूब जोश था। भारतवर्ष का हिन्दू समाज मुसलमानों को अपने में मिलाने में असमर्थ रहा; यही नहीं, धीरे-धीरे उनकी विजय होने लगी। इसका कारण यह नहीं था कि यहां के सैनिक कमजोर थे, या वे युद्ध-कला में

होशियार न थे। नहीं, यहाँ के आदमियों में व्यक्तिगत वीरता आदि की कमी न थी; कमी थी संगठन और एकता की, सामूहिक बल की, या थोड़े में यों कहें कि कमी थी राष्ट्रीयता की। वीर और साहसी होने पर भी राजपूतों ने, अपने संकुचित या अनुदार विचारों के कारण, भारतवर्ष को अनजान में पराधीनता की बेड़ियाँ पहनादीं, चाहे उनमें हरेक बड़ी उम्र का पुरुष और स्त्री ही नहीं बहुत से जवान लड़के लड़कियाँ मातृभूमि के लिए सब-कुछ न्योछावर कर रहीं थीं, और, अपने प्राणों और सगे-सम्बन्धियों का मोह छोड़कर मर मिटना हँसी खेल समझती थीं। अफसोस! मातृभूमि का मतलब आदमी अपने आस-पास की थोड़ी सी ज़मीन मानने लगे। हम अपनी शक्ति का उपयोग अपने भाई-बन्धुओं को नीचा दिखाने में कर रहे थे। देहली पर हमला होता है, और कन्नौज के जयचन्दों' को उसकी चिन्ता नहीं। क्यों? वे देहली को अपनी मातृभूमि या उसका हिस्सा नहीं समझते। यह भाव अनेक रूपों में समय-समय पर काम करता रहा है। मतलब यह कि राष्ट्रीयता न होने से ही यहाँ मुसलमानों ने जोर पकड़ा। धीरे-धीरे बहुत से हिस्सों में उनका राज्य कायम होता गया

यों तो और भी कितने ही मुसलिम शासकों ने हिन्दू जनता के साथ अच्छा व्यवहार किया, पर अकबर ने यहाँ एक मज़बूत राष्ट्र बनाने की खास कोशिश की लेकिन उसे अन्त तक वीरवर महाराणा प्रताप आदि हिन्दुओं का विश्वास, प्रेम और सहयोग न मिल सका। उसके बाद राष्ट्र-निर्माण की ओर वैसा ध्यान बहुत समय तक नहीं दिया गया। औरंगजेब आदि की अदूरदर्शिता और साम्प्रदायिकता से भारत के कई प्रान्तों में फिर जुदा-जुदा राज्य बन गए। अन्त में मराठों के झंडे के नीचे एक राष्ट्र बनने लगा। लेकिन इसी बीच में कुछ योरपीय देशों के व्यापारियों ने यहां आकर अपना-अपना अड्डा जमा लिया, और अपनी चतुराई और नम्रता से हिन्दू और मुसलमान नरेशों तथा जनता का मन मोह लिया। जब योरपीय कम्पनियों की आपसी डाह और

हैं, और इस देश की एकता की याद करा रहे हैं। राम और कृष्ण केवल उत्तर भारत वालों के ही पूज्य नहीं हैं, उनकी कथा का प्रचार हर जगह है। वेद, पुराण, श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण और महाभारत सब की सम्मिलित सम्पत्ति हैं। जन्म-मरण, विवाह-शादी की रीतिरस्म, और होली, दिवाली, श्रावणी, और दशहरे के त्योहार हर जगह मनाए जाते हैं। यही कारण है कि इस जमाने में यहां राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी विचारों का ऐसी आसानी से प्रचार हो रहा है।

भावों और व्यवहारों की एकता से भारतवर्ष की, बहुत प्राचीन काल में, बड़ी उन्नति हो गई थी। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी विषयों में इस देश को शक्ति बढ़ी हुई थी। यही कारण था कि यहां समय-समय पर जो बहुत सी जातियाँ आई, वे यहाँ के जन-समुदाय में हिलमिल गई, और अन्त में यहाँ की ही हो गई; अब यहां यूनानी, हूण, सीथियन आदि के अलग-अलग होने का पता नहीं लगता। हमला करनेवाले इस देश के मित्र और बन्धु बन गए। जीतने-वाले हार मान बैठे, उनकी सन्तान को भारत सन्तान कहलाने में गौरव या बड़प्पन मालूम हुआ। यह बात अनेक सदियों तक रही।

**मध्य-युग की स्थिति**—धीरे-धीरे हालत बदलती गई। सम्राट् अशोक के बाद यहां शासन-सत्ता अकसर कमजोर आदमियों के अधिकार में रही। देश अलग-अलग हिस्सों में बँट गया, और हरेक प्रान्त के आदमी अपने आपको दूसरे प्रान्तवालों से जुदा समझने लगे। इस तरह जब मुसलमान यहां आए, भारतवर्ष की एकता घट गई थी, भारतीय समाज अस्वस्थ और रोगी था। उधर मुसलमानों में उत्साह और साहस था, और अपने नए धर्म के प्रचार के लिए खूब जोश था। भारतवष का हिन्दू समाज मुसलमानों को अपने में मिलाने में असमर्थ रहा; यही नहीं, धीरे-धीरे उनकी विजय होने लगी। इसका कारण यह नहीं था कि यहां के सैनिक कमजोर थे, या वे युद्ध-कला में

होशियार न थे । नहीं, यहाँ के आदमियों में व्यक्तिगत वीरता आदि की कमी न थी; कमी थी संगठन और एकता की, सामूहिक बल की, या थोड़े में यों कहें कि कमी थी राष्ट्रीयता की । वीर और साहसी होने पर भी राजपूतों ने, अपने संकुचित या अनुदार विचारों के कारण, भारतवर्ष को अनजान में पराधीनता की बेड़ियाँ पहनादीं, चाहे उनमें हरेक बड़ी उम्र का पुरुष और स्त्री ही नहीं, बहुत से जवान लड़के लड़कियाँ मातृभूमि के लिए सब-कुछ न्योछावर कर रहीं थीं, और, अपने प्राणों और सगे-सम्बन्धियों का मोह छोड़कर मर मिटना हँसी खेल समझती थीं । अफसोस ! मातृभूमि का मतलब आदमी अपने आस-पास की थोड़ी सी ज़मीन मानने लगे । हम अपनी शक्ति का उपयोग अपने भाई-बन्धुओं को नीचा दिखाने में कर रहे थे । देहली पर हमला होता है, और कन्नौज के जयचन्दों' को उसकी चिन्ता नहीं । क्यों ? वे देहली को अपनी मातृभूमि या उसका हिस्सा नहीं समझते । यह भाव अनेक रूपों में समय-समय पर काम करता रहा है । मतलब यह कि राष्ट्रीयता न होने से ही यहाँ मुसलमानों ने जोर पकड़ा । धीरे-धीरे बहुत से हिस्सों में उनका राज्य कायम होता गया

यों तो और भी कितने ही मुसलिम शासकों ने हिन्दू जनता के साथ अच्छा व्यवहार किया, पर अकबर ने यहाँ एक मज़बूत राष्ट्र बनाने की खास कोशिश की लेकिन उसे अन्त तक वीरवर महाराणा प्रताप आदि हिन्दुओं का विश्वास, प्रेम और सहयोग न मिल सका । उसके बाद राष्ट्र-निर्माण की ओर वैसा ध्यान बहुत समय तक नहीं दिया गया । औरंगजेब आदि की अदूरदर्शिता और साम्प्रदायिकत से भारत के कई प्रान्तों में फिर जुदा-जुदा राज्य बन गए । अन्त में मराठों के झंडे के नीचे एक राष्ट्र बनने लगा । लेकिन इसी बीच में कुछ योरपीय देशों के व्यापारियों ने यहां आकर अपना-अपना अड्डा जमा लिया, और अपनी चतुराई और नम्रता से हिन्दू और मुसलमान नरेशों तथा जनता का मन मोह लिया । जब योरपीय कम्पनियों की आपसी डाह और

प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी तो उनके एक-दूसरे से घोर युद्ध हुए, जिनमें अज्ञान या फूट के कारण भारतवासियों ने भी हिस्सा बँटाया। अन्त में जीत अंगरेजों की रही, और इन्होंने सन् १८५७ तक छल, बल और कौशल से, साम-दाम-दंड-भेद से, भले बुरे सभी उपायों से धीरे-धीरे भारतवर्ष के बहुत से हिस्से पर प्रत्यक्ष या गौण रूप से अधिकार जमा लिया। सन् १८५८ ई० से यहाँ इनका शासन कानूनी तौर से स्थापित होगया।

**अंगरेजी राज्य की स्थापना का रहस्य**— भारतीय इतिहास की इस मंजिल पर हम फिर यह विचार करलें कि क्या कारण है कि सात-समुद्र-पार से आए हुए योरपियनों ने बिसातखानों और गिरजाघरों से निकल कर रणक्षेत्र में आने का साहस किया और क्यों वे यहाँ सफल हुए। यह अब कोई रहस्य नहीं है कि योरपीय कम्पनियों ने अकसर चालाकियों और षड़यंत्रों से काम लिया, और केवल खास हालतों में ही तलवार का उपयोग किया। उन्होंने भारतवर्ष के एक प्रान्त के सिपाहियों को कुछ सिक्कों का प्रलोभन देकर उनकी ताकत से दूसरे प्रान्त को, और कभ-कभी उसी प्रान्त को 'विजय' किया है। 'स्वामिभक्त' या 'नमकहलाल' भारतीय सैनिकों ने अपने भाइयों और बहनों पर हाथ साफ करके देश के एक-एक हिस्से की स्वाधीनता नष्ट की है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हमारी हार का कारण शत्रु-पक्ष की वीरता नहीं थी, बल्कि यह था कि हम में संगठन या राष्ट्रीयता की कमी थी। असल में हम दूसरों से नहीं हारे, हम तो अपने ही आदमियों द्वारा पराजित हुए हैं। यदि भारतवर्ष में उस समय राष्ट्रीयता होती तो योरपीय कम्पनियों को, कोई भी कीमत देने से, ऐसे भारतीय न मिलते, जो इस देश को पराधीनता की बेड़ी पहनाने के लिए अस्त्र उठाते और सैनिक पद को लजाते।

भारतवर्ष में अंगरेजों की राजनीतिक प्रभुता कायम हो जाने का एक खास नतीजा यह हुआ कि हमारे ऐतिहासिक विकास का स्वाभाविक

क्रम रुक गया। जिस समय संसार के दूसरे देशों में सामंतशाही या जागीरदारी कमजोर हो रही थी, भारतवर्ष में अंगरेजों ने अपनी हुकूमत बनाए रखने के लिए न केवल उसे नष्ट होने से बचाया, वरन् उस पर अपना पूर्ण नियंत्रण रखते हुए उसे और मजबूत कर दिया।

**राष्ट्रीयता का विकास**—अठारहवीं सदी में धर्म, समाज, शिक्षा, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में हम अपनेपन को खोकर असहाय हो रहे थे; उन्नीसवीं सदी में हिन्दुओं में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफीकल सोसायटी और रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं ने, और मुसलमानों में सर सय्यद अहमद खाँ आदि ने धीरे-धीरे कई क्षेत्रों में सुधार किया—यह हमने खुलासा तौर पर अपनी 'भारतीय जागृति' में बताया है। हालांकि इन आन्दोलनों का खास विषय राजनीति नहीं था, इस क्षेत्र में भी इनसे बहुत सहायता मिली।

राजा राममोहन राय ने शिक्षा-प्रचार के अलावा कई राजनीतिक सुधारों की कोशिश की। स्वामी दयानन्द ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' ग्रन्थ में निडर होकर यह लिखा कि 'विदेशी राज्य से, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य, उसमें कितनी ही त्रुटियां क्यों न हो, अच्छा होता है।' स्वामी जी की प्रेरणा से लोगों में स्वदेशी, स्वराज्य, और चक्रवर्ती साम्राज्य आदि की सोई हुई भावनाएँ फिर जाग उठीं। श्री रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य श्री विवेकानन्द जी ने विदेशों में भारतीय धर्म के गौरव की घोषणा की। पीछे श्रीमती एनीबिसेन्ट ने तो राजनीतिक तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में असली भाग लिया और भारतीय नेताओं के साथ कंधे-से कंधा मिलाकर भारतीय स्वराज्य के लिए जेल आदि का कष्ट उठाया। इन महानुभावों के परिश्रम से भारतवर्ष को अपने गए हुए गौरव और प्राचीन आदर्शों की याद आई और लोगों में स्वाभिमान उदय हुआ इस तरह राष्ट्रीयता के विकास और प्रचार का रास्ता साफ हुआ।

**विकास के कारण**—राष्ट्रीयता बढ़ानेवाला कोई खास एक-दो

बातें नहीं हैं, बल्कि कई-एक हैं। इनमें पश्चिमी शिक्षा और अंगरेजी भाषा के प्रचार का भी अच्छा स्थान है, हालांकि वह गौण है। इनसे जो हानि हुई, उसे सब जानते हैं; तो भी यह मानना पड़ेगा कि इन्होंने राष्ट्रीय जागृति में खासा योग दिया है। पश्चिमी शिक्षा से हमें योरपीय राजनीतिज्ञों के स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता और देशभक्ति आदि के विचारों का ही ज्ञान नहीं हुआ, हमें यह भी मालूम हुआ कि उन देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन किस तरह हुए और हम उनका अपने यहाँ कहाँ तक अनुकरण कर सकते हैं। उन देशों के स्वराज्य तथा राजनीतिक अधिकार पाने के प्रयत्नों ने यहाँ के विचारकों को इस दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा की।

फिर, अंगरेजी भाषा ने जुदा-जुदा प्रान्तों के शिक्षितों को परस्पर में विचार-विनिमय करने की सुविधा दी। उससे पहले कोई एक अन्तर्प्रान्तीय भाषा न होने से यह कार्य बहुत मुश्किल था। राष्ट्र-भाषा हिन्दी का उस समय ऐसा प्रचार नहीं हुआ था। हालांकि अंगरेजी भाषा जनता की भाषा नहीं हो सकी तो भी पढ़े-लिखे लोगों के लिए उसने राष्ट्र-भाषा का सा काम दिया, इसमें सन्देह नहीं है। अंगरेजों के सम्पर्क के कारण, समय-समय पर यहाँ के सज्जनों ने विदेश-यात्रा की, और अच्छी तरह यह अनुभव किया कि स्वाधीन देश के नागरिकों और भारतवासियों या प्रवासी भारतीयों की स्थिति में कितना अन्तर है। वे अपने कंधों पर से विदेशी शासन का जुआ उतार फेंकने के लिए बेचैन होगये। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति बढ़ी।

दूसरे देशों की जागृति भी यहाँ राष्ट्रीयता के विकास में सहायक हुई। जापान को रूस पर विजय प्राप्त करते, तथा अरब, मिस्र, टर्की फारिस आदि को करवटें बदलते और जागते देख कर भारतवासियों को यह विचार होने लगा कि आखिर हम भी मनुष्य हैं, हम संगठित आन्दोलन करके अपने राष्ट्र का उद्धार क्यों न करें। जो हो, पहले पीछे इन विविध बातों ने भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के विकास में सहायता

प्रदान की है। इस प्रसंग में भौतिक विज्ञान की उन्नति को भी भुलाया नहीं जा सकता उन्नीसवीं सदी के मध्य में रेल, तार, डाक आदि के प्रचार और उन्नति से दूर-दूर के आदमियों के आपस में मिलने-जुलने और पत्र-व्यवहार में सुविधा हो गई। आमदरफ्त बढ़ने से प्रान्तीयता का भाव कम होने लगा, दृष्टिकोण में उदारता आने लगी। इसके अलावा, छापेखाने की उन्नति होने से पत्रपत्रिका और पुस्तकें सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो गईं। इनके द्वारा, खासकर राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं द्वारा, राष्ट्रीय भावों के प्रचार में भारी सहायता मिली।

भारतवर्ष के हिन्दू-मुसलमान शासकों और जगीरदारों आदि का मिल कर सन् १८५७ की आजादी की लड़ाई में भाग लेना जहाँ यह जाहिर करता है कि यहाँ राष्ट्रीय भावों का प्रचार शुरू हो गया था, उस युद्ध की पीछे की कार्रवाई से यह भी मालूम होता है कि उस समय तक राष्ट्रीयता का विकास अधूरा ही हो पाया था। इस असफलता के बाद भी देश में समय-समय पर शासन के प्रति द्रोह की भावनाओं का परिचय मिलता रहा; पर अब कोई संगठित दल ऐसा नहीं रहा, जो विदेशी सत्ता का भली प्रकार सामना करे। उस समय के समाज-संगठन के अनुसार दो ही विचार-धाराएँ प्रमुख थीं :—(१) सशस्त्र युद्ध (हथियारों से लड़ना) और (२) पराधीनता या गुलामी स्वीकार करना युद्ध राजाओं, सामन्तों और जागीरदारों के झंडे के नीचे ही हो सकता था। उनकी नाकामयाबी के बाद राजनीतिक अवस्था ऐसी हो गई, कि हमने विदेशी राज्य को स्वीकार सा कर लिया, और उसके अनुसार अपने-आपको ढालने का काम शुरू कर दिया। हाँ; जब कभी कोई बात विशेष कष्टदायक या अपमानजनक मालूम हुई तो उसके 'सुधार' करने की, कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने की, कोशिश की गई। इस तरह क्रान्ति की बात पीछे पड़ गई, और मैदान संविधानवाद (कानूनी या कागजी कार्रवाई) का समर्थन करनेवालों के हाथ रह गया।

**कांग्रेस और राष्ट्रीयता**—ऐसे ही विचारों का यह नतीजा था

कि दूसरी संस्थाओं के अलावा यहाँ सन् १८८५ में कांग्रेस या राष्ट्र-सभा का जन्म हुआ। इसके संचालक या कर्ता-धर्ता संविधानवादी थे। क्रांतिकारी भावना या कार्यक्रम उनके पास जरा भी न था। शुरू में कांग्रेस मुट्ठी भर आदमियों की संस्था थी, लेकिन धीरे-धीरे इसका संगठन नगर-नगर और गाँव-गाँव में हो गया। यह जनता की संस्था हो गई। इसकी विशेषता यह रही कि इसने भारतीयों के सामने आजादी हासिल करने का सवाल रक्खा। कांग्रेस ने देश की आजादी या स्वतंत्रता के आन्दोलन का संचालन करके भारतवर्ष के दूर-दूर रहनेवाले आदमियों से प्रान्तीयता के अनुदार भाव को हटाने की कोशिश की है, और यहाँ रहनेवाली जातियों के आदमियों को साम्प्रदायिक विचारों से ऊपर उठने की प्रेरणा की है। जैसे-जैसे कांग्रेस की आयु तथा शक्ति बढ़ी है; उसके द्वारा जनता में भारतीयता की भावना पैदा करने का आन्दोलन ज्यादा जोरदार होता रहा है।

इसमें शक नहीं, अभी लक्ष्य प्राप्त होने में कुछ कमी है। कितनी ही साम्प्रदायिक संस्थाएँ अपना अलग-अलग राग अलापती रहती हैं। रेल और प्रबन्ध विभाग के सरकारी नौकर, जब मौका मिले, रिश्वत लेने से नहीं चूकते। मुनाफाखोरी, खाने-पीने के सामान में मिलावट करना और ग्राहकों को धोका देना तो आम बुराइयाँ हैं। इन बातों से साफ जाहिर है कि देश में राष्ट्रीयता का काफी विकास नहीं हुआ है। नहीं तो किसी भी प्रान्त, वर्ग या जाति का कोई भी आदमी ऐसा नहीं मिलना चाहिए, जो अपने स्वार्थ या खुदगर्जी के लिए राष्ट्र-विरोधी कार्य करे। जो हो, निराशा की बात नहीं; हालांकि समय-समय पर हमारी प्रगति रुकी हुई मालूम पड़ी है व्यापक दृष्टि से देखें तो राष्ट्रीयता बराबर बढ़ती जा रही है। अब हमने स्वाधीनता प्राप्त कर ली है तो एकता तथा राष्ट्रीयता का बढ़ना और अधिक स्वाभाविक है।

——

## तीसरा परिच्छेद
# राष्ट्रीयता के साधन

*देश के सब निवासी देश से हित रखें, और अपने देश के विरुद्ध विदेशियों से मिलना पाप समझें तो जुदी-जुदी जाति, धर्म और भाषा के रखनेवाले भी एक राष्ट्र कहला सकते हैं।*

*—प्रो० बालकृष्ण शर्मा*

पिछले परिच्छेदों में इस बात का विचार किया गया है कि राष्ट्र कैसे बनता है, और भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का कहाँ तक विकास हुआ है। यह भी जान लेना आवश्यक है कि राष्ट्रीयता में मदद देनेवाले साधन क्या-क्या होते हैं, और भारतवर्ष में उनकी दशा कैसी है। मिसाल के तौर पर भौगोलिक विचार से यह देश कैसा है; यहाँ भाषा, धर्म, जाति और संस्कृति अलग-अलग है, या उनमें एकता की भावना है; शासन का प्रभाव कैसा पड़ता रहा है।

**भौगोलिक स्थिति**—मनुष्य पर भौगोलिक यानी भूमि सम्बन्धी बातों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। कुछ समय पहले योरोपीय समाज-शास्त्रियों का एक दल मनुष्यों के विविध गुण-दोषों, उनके स्वभाव, रहन-सहन, खान-पान, ज़रुरतों, संस्थाओं, आन्दोलनों तथा इतिहास आदि का एकमात्र कारण भौगोलिक स्थिति मानता था। अब इस सिद्धान्त का खण्डन हो चुका है, तथा आमदरफ़ के साधनों की वृद्धि ने भौगोलिक स्थिति का महत्व पहले से कम कर दिया है, तो भी जमीन के किसी हिस्से को राष्ट्र मानने के लिए उसकी भौगोलिक एकता का विचार करना जरुरी है।

भारतवर्ष के उत्तर में हिमालय की दुर्गम, ऊंची और विशाल दीवार खड़ी करके, तथा इसके तीन ओर महासागर बनाकर प्रकृति ने इस भू-खंड को एक अलग ही देश बनाया। सिर्फ पश्चिम की ओर एक छोटा सा रास्ता पर्वतमालाओं के बीच में से रहा। प्राचीन समय में विदेशी इसी रास्ते से होकर यहाँ आए। पिछली सदी में जहाजी काम में उन्नति हो जाने से जल-सीमा का पहले जैसा महत्व नहीं रहा। इधर वायुयानों की उन्नति ने सीमा के पहाड़ों का महत्व कम कर दिया है। तथापि भारतवर्ष अपने पास के देशों से स्पष्ट रूप से अलग रहा है। अगस्त १९४७ से इसकी पूर्वी और पश्चिमी सीमा के कुछ प्रदेशों का एक जुदा राज्य (पाकिस्तान) बन जाने से भारत की इस ओर की प्राकृतिक सीमा नष्ट होगई है। बाहरी रक्षा की दृष्टि से भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध के विषय में आगे लिखा जायगा। संसार में कितने ही राष्ट्र ऐसे हैं, जिनकी कोई कुदरती हद नहीं है, वे दीवार अथवा कांटीले तारों आदि की बनावटी सीमा द्वारा अपने पास के राष्ट्रों से अलग किए हुए हैं। उस सीमा के सम्बन्ध में अकसर झगड़ा या विवाद रहता है। अस्तु, पाकिस्तान बन जाने से भारत की भौगोलिक स्थिति ऐसी नहीं हो गई कि इसे अब एक अलग राष्ट्र न माना जाय।

स्वतंत्र होने के बाद भारत ने अपनी एकता के विषय में एक खास प्रगति की है। ब्रिटिश सरकार ने जगह-जगह 'रियासतें' बनाई रख कर इस देश को सैकड़ों भागों में विभक्त कर रखा था। यह राष्ट्रीयता के लिए एक भयंकर बाधा थी। अब भारत-सरकार के अद्भुत् कौशल से सब रियासतें भारतीय संघ के अभिन्न अंग बन गई हैं। भारत में कुछ बड़ी-बड़ी नदियाँ और पहाड़ जरूर हैं, लेकिन सभ्यता की वृद्धि, और आमदरफ्त के साधनों की उन्नति के समय में इनसे देश की एकता में बाधा नहीं पहुँचती। निदान, भौगोलिक दृष्टि से भारत की स्थिति संसार के अन्य अनेक राष्ट्रों से बुरी नहीं, और बहुत से राष्ट्रों की अपेक्षा निश्चित रूप से अच्छी है।

**भाषा**—राष्ट्रीयता की दृष्टि से भाषा की एकता का महत्व साफ़ ज़ाहिर है। जो लोग हमारी भाषा ही नहीं समझते, वे हमसे भौगोलिक सम्बन्ध या रिश्तेदारी रखते हुए भी हमारे सुख-दुःख में क्या साथ दे सकते हैं! वे तो हमें पराए ही मालूम होंगे। एक ही भाषा बोलनेवालों में विचार-विनिमय की, यानी एक दूसरे के विचार जानने की सुविधा होती है, और उनमें धीरे-धीरे विचारों की एकता हो जाती है। और, संसार में, खासकर प्रजातंत्र युग में, विचारों का ही राज्य होता है।

कुछ पश्चिमी तथा कई भारतीय लेखक यहाँ की भाषा की अनेकता के रोग को बहुत भयंकर बतलाकर कहने लगते हैं कि भारतवर्ष एक राष्ट्र न पहले कभी बना, न अब है और न आगे ही कभी हो सकता है। हमें उनकी अत्युक्ति, निराशा और अनुदार दृष्टि पर दया आती है। योरोप में कई ऐसे राष्ट्र मौजूद हैं, जिनमें एक से अधिक भाषाएँ प्रचलित हैं। मिसाल के तौर पर स्विटज़रलैंड के प्रजातंत्रीय राष्ट्र की पार्लिमेंट के मेम्बर तीन भाषाओं में से चाहे जिसका व्यवहार कर सकते हैं; फ्रांस का राष्ट्र तीन भाषाओं से कम में काम नहीं चलाता रहा। अमरीका के संयुक्त राज्यों की सी जुदा-जुदा भाषाएँ तो शायद किसी भी देश में नहीं, तो भी वे एक मजबूत राष्ट्र माने जाते हैं। ब्रिटेन की अंगरेजी, वेल्श और स्काच भाषाओं में वैसा ही भेद है, जैसा भारतवर्ष के दो दूर-दूर के प्रान्तों की भाषाओं में है, तो भी उसकी राष्ट्रीयता को कोई अस्वीकार नहीं करता।

अब भारतवर्ष की बात लीजिए। प्राचीन समय में चिरकाल तक संस्कृत यहाँ की देश-भाषा रही। अब भी यह देश भर के हिन्दुओं की धार्मिक भाषा है, और पूजा-पाठ में तथा ज्योतिष और वैद्यक आदि के पढ़ने-पढ़ाने में काम आती है। बीच में सारे देश की कोई एक प्रधान भाषा न रही; हरेक प्रांत की भाषा जुदा-जुदा हो गई। लेकिन किसी लेखक की यह समझ ठीक नहीं है कि भारतवर्ष में सैकड़ों भाषाएँ

हैं, क्योंकि ऐसा समझने में भाषा और बोली का फरक भुला दिया जाता है, और सब को भाषा ही मान कर उनकी संख्या अनगिनत कर दी जाती है। असल में यहाँ की भाषाएँ अंगुलियों पर गिनी जा सकती हैं। उनमें से मुख्य ये हैं—हिन्दी ( उर्दू या हिन्दुस्तानी ), बंगला. मराठी, गुजराती, कन्नड़, तामिल. तेलगू और मलयलम। शेष सब इन्हीं में से किसी न किसी के अन्तर्गत बोलियाँ हैं; ज्यों-ज्यों लोगों के आपसी सम्बन्ध तथा सभ्यता बढ़ते जाते हैं, इन बोलियों की संख्या घटती जा रही है। भाषाओं में से कई एक, संस्कृत से गहरा सम्बन्ध रखती हैं और इसलिए एक दूसरे से थोड़ी-बहुत मिलती हैं। फिर, इन भाषाओं में भी हिन्दी ऐसी है, जो बिहारी, राजस्थानी, पंजाबी आदि अपनी बोलियों सहित भारतवर्ष के हर सात आदमियों में से तीन की मातृभाषा है, जिसे वे दिन-रात बोलते हैं। 'दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' के उद्योग से मदरास आदि में भी हिन्दी (और उर्दू) का प्रचार बढ़ता जा रहा है। और, राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, वर्धा, की कोशिश से अहिन्दी प्रान्तों में अब हिन्दी बोलने और समझने वाले आदमी जगह-जगह मिल जाते हैं। निदान, तीन-चौथाई से अधिक भारतवासी हिन्दी समझ सकते हैं। हर प्रान्त से हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें, प्रकाशित हो रही हैं। इस प्रकार इस भाषा की, भारतवर्ष की राष्ट्र भाषा होने की योग्यता में कोई सन्देह नहीं है।

**हिन्दी भाषा की स्वाभाविक योग्यता**—किसी देश में वही भाषा राष्ट्र-भाषा हो सकती है, जो वहाँ उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम तक थोड़ी-बहुत अवश्य बोली जाती हो, आसानी से समझी जाती हो और जो थोड़ी मेहनत से सीखी जा सकती हो। भारतवर्ष में ऐसी भाषा हिन्दी ही है। हिन्दी भाषा का केन्द्र संयुक्तप्रान्त हैं। यहाँ से इसकी लहरें चारों ओर फैली हैं। यहाँ तक कि इसकी सीमाएँ बंगला, तामिल तेलगू, कन्नड़. मलयलम, मराठी और गुजराती सब भाषाओं से जा मिली हैं। इस तरह हिन्दी इन सबके मिलने की जगह है। जब

भारतवर्ष के अलग-अलग प्रान्तों के आदमी आपस में मिलते हैं; तो वे जिस भाषा का उपयोग करके अपना काम चलाते हैं, वह हिन्दी का ही कुछ बदला हुआ स्वरूप होता है। बंगाली कहेगा, 'आप क्या बात करता है।' गुजराती कहेगा, 'आप जल पीओ न, कांई हरकत छे!' इस प्रकार हिन्दी भाषा, बिना किसी मेहनत के बनती और फैलती है। इससे इसकी, राष्ट्र-भाषा होने की, स्वाभाविक योग्यता का परिचय मिलता है।

इसके अलावा, हिन्दी में एक महत्वपूर्ण विशेषता है, इसका भारतीय संस्कृति और सामाजिक जीवन के, सबसे अधिक नजदीक होना। इस पर इस देश के उत्थान और पतन, उन्नति और अवनति की, और समय-समय पर चलनेवाले तरह-तरह के आन्दोलनों की छाया बराबर पड़ती रही है। यह जनता की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दशा का सच्चा चित्र उपस्थित करती रही है।

**हिन्दी और उर्दू**—हिन्दी से भारतवर्ष की जो भाषा सबसे ज्यादा मिलती है, वह उर्दू है। असल में हिन्दी उर्दू एक ही भाषा के दो रूप हैं, क्योंकि दोनों के क्रिया-पद, विभक्ति, प्रत्यय, अव्यय और सर्वनाम एक ही हैं। पहले इन दोनों भाषाओं में सिर्फ लिपि का फर्क माना जाता था। देवनागरी लिपि में लिखी हुई भाषा को 'हिन्दी', और फारसी लिपि में लिखी हुई इसी भाषा को 'उर्दू' कहा जाता था। लेकिन पीछे उर्दू के लेखकों ने अपनी भाषा को विद्वानों और अमीर-उमरावों की भाषा बनाने की धुन में, उसमें फारसी और अरबी के मुश्किल-मुश्किल शब्दों की भरमार करनी शुरू करदी। यही नहीं, उन्होंने भाषा की शैली भी बदल डाली। मिसाल के तौर पर उन्होंने वकील, साहब, और हाकिम शब्दों को बहुबचन में वुकला, असहाब, और हुक्काम लिखा। अमनचैन को अमन-ओ-आमान, धार्मिक उत्साह को जोश-ए-मजहब, और भारत माता को मादरे हिन्द कहा। इस तरह उन्होंने हिन्दी व्याकरण के अनुसार न चल कर जब भाषा को ईरानी

या अरबी का लिबास पहनाया तो उनकी भाषा यहां की साधारण जनता की समझ में आने लायक न रही। दूसरी तरफ, हिन्दी में धीरे-धीरे संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग बढ़ने से यह भाषा, खासकर अरबी मिली हुई उर्दू वालों के लिए, बहुत कठिन होती गई। इस तरह कठिन उर्दू और कठिन हिन्दी दो अलग-अलग भाषाएँ हो गईं।

**हिन्दुस्तानी**—इधर कुछ समय से कितने ही सज्जनों की यह इच्छा रही है कि आसान हिन्दी और आसान उर्दू के मिले हुए स्वरूप हिन्दुस्तानी का प्रचार किया जाय। हिन्दुस्तानी के मुख्य प्रवर्तक म० गांधी हैं। आपके मत से 'हिन्दुस्तानी का मतलब उर्दू नहीं, बल्कि हिन्दी और उर्दू की वह खूबसूरत मिलावट है, जिसे उत्तरी हिन्दुस्तान के गांवों के लोग—हिन्दू और मुसलमान समझ सकें। जो भाषा नागरी और उर्दू लिपि में लिखी जाती है, वह पूरी राष्ट्र-भाषा है, बाकी अधूरी है! पूरी राष्ट्र-भाषा सीखनेवालों को आज तो दोनों लिपियां सीखनी चाहिएँ, और दोनों रूप जानने चाहिएँ।' सन् १९२५ में महात्मा जी के आग्रह पर काँग्रेस ने हिन्दुस्तानी को पहली बार अपने भाषण, लेखन और प्रकाशन का माध्यम बनाया। सन् ३७-३८ में कांग्रेस-सरकार वाले प्रांतों में हिन्दुस्तानी को सरकारी आश्रय भी मिला। कांग्रेसी कार्यक्रम में हिन्दुस्तानी को ऊँची जगह तो बराबर ही मिलती रही है।

मई १९४२ में म० गाँधी द्वारा 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' कायम की गई थी। हिन्दुस्तानी भाषा सम्बन्धी कई कार्य हो रहे हैं। हिन्दुस्तानी कोष तैयार करने के विचार से कुछ समय तक अंगरेजी 'हरिजन' में अंगरेजी शब्दों के अर्थ क्रमशः देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों में दिए गए। हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा की ओर से हिन्दुस्तानी की परीक्षाओं की व्यवस्था की गई है, और बहुत से स्थानों में उसके परीक्षा-केन्द्र स्थापित हैं। सन् १९४६ से 'हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी', प्रयाग की ओर से 'नया हिन्द' नाम का एक मासिक पत्र एक-साथ देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों में प्रकाशित होता है, भाषा दोनों लिपियों

में एक ही रहती है। इस सोसाइटी के सेक्रेटरी श्री० पंडित सुन्दरलाल जी हैं। आपकी कई पुस्तकें दोनों लिपियों में एक ही भाषा में छपी हैं।

**पाकिस्तान बनने के बाद**—अगस्त १९४७ से भारतवर्ष का विभाजन होकर पाकिस्तान एक अलग राज्य बन गया। भारतीय संघ में यह खुलेआम कहा जाने लगा कि 'हिन्दुस्तानी एक बिलकुल बनावटी या गढ़ी हुई भाषा है। इसका हमारे जीवन में, हमारी संस्कृति में कोई स्थान नहीं है। यह समाज के साथ एक मखौल है, इसका जन्म राजनीतिक समस्या को हल करने के लिए हुआ था। पर अब तो हिन्दू-मुसलिम एकता का स्वप्न भंग हो गया, भारतवर्ष की अखंडता नष्ट हो गई, अब भारतीय संघ में उर्दू को हिन्दी के बराबर स्थान देने या हिन्दुस्तानी का प्रचार करने की आवश्यकता नहीं; यहां तो हिन्दी का राज्य होना चाहिए।'

स्वतंत्र भारत का संविधान बनने से पहले ही संयुक्त प्रान्त, बिहार तथा राजपूताना और मध्य-भारत की कुछ रियासतों की सरकारों ने हिन्दी को राजभाषा बना दिया था। पीछे सर्वसाधारण की माँग होने से भारतीय संविधान सभा द्वारा हिन्दी भारतीय संघ की राजभाषा घोषित की गयी, यद्यपि कुछ नेता खासकर म० गांधी के मतानुयायी, हिन्दुस्तानी के पक्ष में थे।

**विचारणीय बात**—हमें राष्ट्र-भाषा के सवाल पर बहुत ठण्डे दिल से विचार करना चाहिए। हम चाहते हैं कि राष्ट्र भर में उसका खूब प्रचार हो, और रोजमर्रा के कामों में उसका ज्यादा-से-ज्यादा इस्तेमाल हो। इसलिए जरूरत पड़ने या आसान मालूम होने पर हम विदेशी शब्दों को भी लेने में संकोच न करें; हां, उनको इस्तेमाल इस तरह करें, जैसे वे हमारी भाषा के हों।

हमें यह बात कहने और इस पर जोर देने की जरूरत इसलिए है कि अन्य क्षेत्रों की भांति भाषा के विषय में भी हम में बहुत कट्टरता है। हम उर्दू वालों की शिकायत किया करते हैं परन्तु खुद अपनी कट्टरता

का विचार नहीं करते। कुछ समय हुआ, हमें लाहौर में एक सज्जन से मिलने का अवसर आया था। उन्होंने अपने द्वारा संचालित बालिका विद्यालय का परिचय देते हुए गर्व से कहा कि "भाषा के सम्बन्ध में हमारी नीति स्पष्ट है। हम शुद्ध हिन्दी का व्यवहार करते हैं। हम उसमें किसी प्रकार का मिश्रण (मिलावट) सहन नहीं करते। यदि हमारे यहां की कोई बालिका पुस्तक को 'पुस्तक' न कह कर 'किताब' कहदे तो उसे दो चांटे लगाए जयँ।" हम यह सुन कर सोच में गए पड़। 'पुस्तक' शब्द तो हमारा है ही, पर 'किताब' को भी तो हमने अपना रखा है; जैसे कि स्कूल, स्टेशन, टिकट, लालटेन, रोटी, कपड़ा आदि सहस्रों शब्द अपनाए हुए हैं। इन शब्दों को निकाल बाहर करना हिन्दी का दम घोटना है। इससे उसके राष्ट्र-भाषा बनने में अत्यन्त बाधा होगी। राष्ट्र-भाषा ऐसी नहीं रह सकती, जो दूसरे शब्दों के समावेश से दूषित हो जाय। उसमें तो समय-समय पर आवश्यकतानुसार नए-नए शब्द लेने और उन्हें पचाने की शक्ति होनी चाहिए, जिससे उनका कोष उत्तरोत्तर बढ़ा रहे।

अगर शुद्ध हृदय से काम लिया जाय तो बोलचाल और साधारण साहित्य के लिए हिन्दुस्तानी (सरल हिन्दी या सरल उर्दू) खूब सफल होगी। खासकर गांवों की जनता में (जो देश की कुल आबादी की अठासी फी सदी है), साधारण ज्ञान का प्रचार करने में हिन्दुस्तानी से बहुत काम लिया जा सकता है और लिया जाना चाहिए। हाँ, ऊँचे साहित्य की भाषा के लिए हिन्दी और उर्दू जुदा- जुदा ही रहेंगी, और हिन्दुस्तानी से उसकी समस्या हल न होगी।

**लिपि**— पढ़े-लिखे आदमियों के विचार एक-दूसरे को भली-भांति मालूम होने के लिए, समान भाषा के अलावा समान लिपि की आवश्यकता हुआ करती है। लिपि में खास तौर से ये गुण देखे जाते है—(१) सौंदर्य या खूबसूरती (२) शीघ्र-लेखन या जल्दी लिखना (३) निश्चय अर्थात् जो लिखा जाय, वही पढ़ा जाय; उसमें शंका न हो। इस

विचार से भारतवर्ष की (एवं संसार के विविध देशों की) प्रचलित लिपियों में देवनागरी सबसे अच्छी है। यहाँ इसका प्रचार भी सबसे अधिक है। इस देश के निवासियों में से अधिकांश आदमी ऐसी भाषाओं का प्रयोग करते हैं, जो इसी लिपि में लिखी जाती हैं। मदरास प्रान्त को छोड़कर भारतवर्ष की दूसरी प्रधान लिपियाँ बँगला, मराठी, गुजराती और गुरुमुखी हैं। इनमें से मराठी तो नागरी से मिलती-जुलती ही है, और बाकी तीन लिपियों से नागरी किसी बात में कम नहीं है। जल्दी लिखने के लिए इसके अक्षरों की ऊपर की रेखा हटाई जाती है, (सिर्फ ख, ध, भ, और ण का रूप कुछ बदला जाता है)। नागरी अक्षर कितने ही प्रान्तों और देशी राज्यों में प्रचलित हैं। हिन्दी के अतिरिक्त कई अन्य भाषाओं का साहित्य भी कभी-कभी देवनागरी लिपि में प्रकाशित होता है।* इस तरह भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि बनने की सबसे अधिक योग्यता इसी लिपि में है।

अब फारसी लिपि की बात लें, जिसमें उर्दू लिखी जाती है, और जिसे आमतौर से उर्दू लिपि भी कह दिया जाता है। शुरू में इसका इस्तेमाल मुसलमान ही करते थे। खासकर मुसलमान बादशाहों के समय में कितने ही हिन्दुओं ने भी इसे अपना लिया। पीछे यहाँ अँगरेज सरकार ने इसे अदालतों में जारी करके और सिक्कों आदि पर स्थान देकर इसका महत्व और प्रचार बढ़ाया। कांग्रेस ने समझौते की भावना से इस लिपि को देवनागरी की बराबरी का पद दिया। सन् १९३७-३९ में, प्रान्तों में, जहाँ काँग्रेस-सरकारें थी, वहाँ उनके द्वारा, और दूसरी

---

* द्राविड़ (और विदेशी) भाषाओं को भी इसी लिपि में लिखा जा सकता है; सिर्फ कुछ निशानों की जरूरत होती है, जो रोमन लिपि से सहज ही लिए जा सकते हैं। छपाई की सुविधा के लिए इस लिपि के अक्षरों के स्वरूप में कुछ सुधार की ज़रूरत है, उसका विचार किया जा रहा है।

जगहों में मुसलमान या अंगरेज अधिकारियों द्वारा, इसे खूब प्रोत्साहन दिया गया। वैज्ञानिक दृष्टि से इस लिपि में बहुत दोष हैं और यह भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि होने के अयोग्य है, तो भी मौजूदा हालत में इसकी पूर्ण रूप से अवहेलना नहीं की जा सकती। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' देवनागरी लिपि के साथ-साथ इस लिपि के प्रचार की जो कोशिश कर रही है, उसका जिक्र पहले किया जा चुका है। आम तौर से उत्तर भारत में, हरेक आदमी के लिए दोनों लिपियाँ सीखने की बात का बहुत विरोध हुआ है।

भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि के सम्बन्ध में रोमन लिपि की भी बात उठाई जाती है। कुछ साधारण आदमी ही नहीं, कभी-कभी तो विद्वान माने जानेवाले और नेता कहे जानेवाले आदमी भी यह सोचते हैं कि 'रोमन लिपि को यहाँ राष्ट्र-लिपि का स्थान दे दिया जाय; इसका प्रचार योरोप अमरीका आदि अंगरेजी भाषा वाले देशों में बहुत है; भारतवर्ष में यह लिपि राष्ट्र-लिपि स्वीकार हो जाने से यहाँ देवनागरी और उर्दू (फारसी) लिपि का झगड़ा भी न रहेगा।'

ये सज्जन भूल जाते हैं कि रोमन लिपि हमारे बहुत से भाइयों के लिए नयी है। अदालतों की भाषा, सभ्यता की भाषा, और सरकारी पद पाने की भाषा बनी रहने, तथा इसकी शिक्षा में बेशुमार धन स्वाहा किए जाने पर भी अभी तक दस हजार पढ़े-लिखों में से केवल सवा सौ आदमी अंगरेजी भाषा जान पाए हैं, जो कि रोमन लिपि में लिखी जाती है। विदेशी होने के अलावा, इस लिपि में यह बड़ा दोष है कि इसमें लिखा कुछ जाता है, और पढ़ा कुछ और जाता है। जहाँ-जहाँ यह लिपि प्रचलित है, उन स्थानों में रोमन अक्षरों के उच्चारण समान नहीं हैं। यह ठीक है कि टर्की आदि कुछ राज्यों ने अरबी लिपि छोड़ कर रोमन लिपि को स्वीकार किया है, लेकिन यह इसलिए नहीं कि रोमन लिपि सब तरह से पूर्ण या वैज्ञानिक है, बल्कि इसलिए कि यह लिपि उन राज्यों की पहले की लिपियों से कुछ अच्छी है, और छापने

या टाइप करने में बहुत सुविधाजनक है। रोमन लिपि के प्रचार का कारण यह भी है कि यह उन राज्यों की लिपि है, जिनका संसार में राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभुत्व है।

जो हो, रोमन लिपि का भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि होना बिलकुल अनुचित है। देवनागरी लिपि ही सबसे अच्छी लिपि है; भारतवर्ष में, इसके उपेक्षित होने का कारण यह हुआ कि यह देश पराधीन था। अब हमने स्वाधीनता प्राप्त करली है। नये संविधान के अनुसार देवनागरी को राजलिपि मान लिया गया है; हाँ मद्रासियों आदि के आग्रह के कारण अंक अभी रोमन लिपि के ही मान्य रहेंगे।

**धर्म या मत**—इस विषय में पहले तो यही विचार करने की बात है कि किसी देश की एकता के लिए धार्मिक विश्वासों की एकता कहाँ तक अनिवार्य या लाजमी है। योरोपीय देशों के इतिहास में एक समय था, जब एक ईसाई सम्प्रदाय की स्त्री का विवाह उसी ईसाई सम्प्रदाय के पुरुष से होता था; ईसाई मत के दूसरे सम्प्रदाय के पुरुष के साथ नहीं हो सकता था। रोमन-केथलिक ईसाई प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों के खून के प्यासे थे; और प्रोटेस्टेन्ट ऐसे अवसर की खोज में रहते थे, जब वे रोमन-केथलिकों को नेस्तनाबूद कर दें। उस समय वहाँ यह सिद्धान्त माना जाता था कि एक देश में एक ही धर्म के आदमी रहें तो उसकी एकता मजबूत होगी। लेकिन अब समय ने उन देशों को अधिक सहनशील बना दिया है। जुदा-जुदा धर्मों में विश्वास रखनेवाले आदमी भी एक देश में आम तौर पर सुख-चैन से रहते हैं।

भारतवर्ष में प्रायः धार्मिक सहनशीलता रही है। यहाँ ऐसी रोमांचकारी बातें देखने में नहीं आईं, जिनसे ईसाई देशों के इतिहास भरे पड़े हैं। भारतवर्ष में हिन्दू, बौद्ध और पारसी साथ-साथ रहे हैं। मुसलमानों की हुकूमत में भी यहां इतना भेद-भाव नहीं रहा, जितना स्वार्थी लेखकों ने सिद्ध करने की कोशिश की है। इने-गिने बादशाहों या उनके कुछ कट्टर आदमियों के दुराग्रह के अलावा, जनता में कोई

विशेष धार्मिक झगड़ा नहीं हुआ। हिन्दू-मुसलमान जन-साधारण यहां उस समय तक बराबर प्रेम से रहे जब तक कि योरपियनों ने अपनी ताकत बढ़ाने या अपने पैर जमाने के लिए उनमें फूट न डाली। अस्तु, अब दोनों ही धर्मवालों में हर प्रकार के विचारवाले आदमी हैं। दोनों में मूर्तिपूजक हैं और मूर्ति-विरोधी भी; भाग्यवादी हैं और कर्मवादी भी। बंगाल और बिहार के कितने ही मुसलमान, ब्राह्मणों के द्वारा हिन्दू-मन्दिरों में पूजा करवाते हैं। इसी तरह बहुत से हिन्दू, मुसलमानों के मकबरों और ताजियों पर शीरनी ही नहीं चढ़ाते, ताजिए भी रखते और मनौतियां करते हैं। इन बातों का ज्यादा ब्योरा देने की जरूरत नहीं। हम यह समझने लग गए हैं कि बाहरी मत-भेद व्यर्थ या फजूल है, धर्म के मूल तत्व अब राष्ट्रीय कर्त्तव्य का रूप धारण कर रहे हैं!

**रीति-रस्म और रहन-सहन**—यदि किसी देश के आदमियों में रीति-रस्म या आचार-व्यवहार जुदा-जुदा हो तो ज्यादा चिन्ता की बात नहीं। ऐसा कौनसा राष्ट्र है, जिनमें ये बिलकुल एक समान हों! यह बात अमल में नहीं आ सकती और जरूरी भी नहीं कि करोड़ों आदमी एक ही तरह की रीति-रस्म बर्तें। थोड़ी सी भिन्नता तो सुन्दर तथा उपयोगी ही होती है। फिर, दूसरे देशों के मुकाबले, भारतवर्ष के विविध भागों की रीति-रस्मों में अधिक समानता है। विवाह-शादी, जन्म-मरण रहन-सहन तीज-त्योहार आदि की खास-खास बातों में आम तौर पर एकता ही है।

श्री० पंडित सुन्दरलाल जी ने मदरास में, अपने दीक्षान्त भाषण में कहा था—"कम-से-कम उत्तर भारत में हर हिन्दू शादी के समय 'नौशाह' बनता है। हिन्दू की शादी बिना सेहरे और जामे के नहीं होती, और मुसलमानो की शादी बिना कंगन के। सेहरा और जामा मुसलमानी हैं, और कंगन हिन्दू। मुझे नहीं मालूम भारत में कितने मुसलमान घर मिलेंगे, जिनमें लड़कों और लड़कियों का कंछेदन

श्रौर नकछेदन नहीं होता। दोनों रिवाज हिन्दू हैं, जिनका इस्लाम से कोई सम्बन्ध नहीं। मुझे इन मिसालों को बढ़ाने की ज़रूरत नहीं है इस तरह की छोटी-छोटी बातों में, यदि हम ईमानदारी से देखें तो अनेक बातों में एक पेशावर के हिन्दू और एक मदरास के हिन्दू में कहीं अधिक अन्तर है, बनिस्बत एक पेशावर के हिन्दू और पेशावर के मुसलमान में।"

पहनावे की बात लीजिए। साधारण हिन्दू और मुसलमानों में—पुरुष हों या स्त्री—उनकी पेशाक में कोई साफ भेद नजर नहीं आता। कुछ मुसलमानों ने अपने समाज में तुर्की टोपी और तहमत का विशेष प्रचार करना चाहा। पर इसमें सफलता न मिली। साधारण तौर से मुसलमान जिस प्रान्त में रहते हैं, वहाँ की ही पेशाक पहनते हैं। पहले टोप यहाँ ज्यादातर ईसाई लगाते थे; अब बहुत से हिन्दू और मुसलमान भी लगाते हैं। गाँधी टोपी को सर्वसाधारण ने अपना लिया है। इस प्रकार पोशाक से इतना भेद-भाव और अलहदगी का परिचय नहीं मिलता, जितना एकता का।

**जाति**—एक ही पूर्वजों की सन्तान की शारीरिक बनावट, शकल-सूरत, हाव-भाव और विचार-शैली में बहुत-कुछ समानता अथवा एकता होती है, खासकर जबकि वे बहुत मुद्दत तक एक ही जगह रहती रही हों। प्राचीन काल में प्रत्येक जाति विवाह सम्बन्धी कठोर नियम जारी करके अपना रक्त शुद्ध रखने, और इस प्रकार अपनी अलहदगी बनाए रखने, की बड़ी कोशिश करती थी। मिसाल के तौर पर भारतीय आर्य जातियों में इसका बहुत विचार रहा है। लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इसमें अन्तर आता गया; आमदरफ़्त की सुविधाओं ने भी विविध जातियों की मिलावट में मदद दी। अब कोई जाति बिलकुल शुद्ध रक्त का अभिमान नहीं कर सकती।

पुराने जमाने में एक जाति के आदमी अकसर साथ-साथ एक ही देश में रहते थे, पीछे वे अपनी तरह-तरह की जरूरतों के कारण, अलग-

अलग देशों से सम्बन्ध बढ़ाने तथा उनमें रहने लगे। आजकल तो हरेक देश में कई जातियों के आदमी मिलते हैं और कोई देश केवल एक ही जाति का निवास-स्थान होने का दावा नहीं कर सकता; हाँ, बहुत से देशों में एक-एक जाति की प्रधानता जरूर है। जो हो, कई जातियों के होने से किसी देश की एकता में बाधा पड़ना जरूरी नहीं है। उन्नत देशों में प्रत्येक जाति अपने निजी व्यवहार में स्वाधीन रहती है, और जब पूरे देश का अथवा राजनीतिक सवाल आता है तो सब आपस में मिलकर उसमें योग देती हैं।

अब इस सम्बन्ध में भारतवर्ष की स्थिति का विचार करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बीच में यहाँ हिन्दुओं के वर्णविभाग की अवस्था बहुत अस्त-व्यस्त हो गई; एक जाति में अनेक उपजातियाँ, और एक-एक उपजाति के अनेक छोटे-छोटे भाग बन गए। तो भी हताश होने की बात नहीं है। कई वर्षों से ब्राह्मण-सभा, क्षत्री-सभा, वैश्य-सभा, आदि अपनी-अपनी जाति के अन्तर्गत उपजातियों को एक बड़े सूत्र में संगठित करने की कोशिश कर रही हैं। जाति-पाँति तोड़ने के पक्षवालों की भी संख्या धीरे-धीरे बढ़ रही है। हाँ, इस दिशा में अभी काफी प्रगति नहीं हो रही है।

असल में भारतवर्ष में दो ही जातियाँ प्रधान हैं—आर्य और द्राविड़। [ज्यादातर मुसलमान भारतीय आर्यों के ही वंश के हैं, बाहर से तो बहुत ही थोड़े आदमी आये थे; स्त्रियाँ तो आई ही नहीं; पुरुषों का अकसर यहाँ वालों से रक्त-सम्बन्ध या रिश्तेदारी हो गई।] आर्य और द्राविड़ों के अलावा यहाँ कुछ ईरानी और मंगोलियन मिलावट है। भारतवर्ष जैसे महान, फैले हुए और पुराने देश में इतना सा जाति-भेद कुछ ज्यादा नहीं है।

योरोप अमरीका आदि राष्ट्रों में, जो आकार में भारतवर्ष के साधारण प्रान्तों के समान हैं, जाति-भेद कहीं अधिक है। कनाड़ा में अंगरेज और फ्रांसीसी का पुराना भेद भाव मौजूद है। अमरीका के संयुक्तराज्य

में तो दुनिया भर की; खासकर योरोप की; विविध जातियों के आदमियों ने अपना घर बनाया है, फिर भी वह राष्ट्रीयता में अपना सिर ऊँचा किए हुए है। स्विटजरलैंड एक बहुत छोटा सा देश है, फिर भी उसकी जनता कई जातियों की बनी हुई है। खुद ग्रेट-ब्रिटेन (इंगलैंड और स्काटलैंड) एक मामूली टापू है, उसके निवासियों के पूर्वज अलग-अलग जातियों के थे। दक्षिण अफ्रीका में बोअरों और अंगरेजों का युद्ध अभी कल की बात है। फिर भी कोई इन देशों की राष्ट्रीयता में संदेह नहीं कर सकता। निदान, भारतवर्ष की जाति सम्बन्धी स्थिति, राष्ट्रीयता के विचार से, असंतोषप्रद नहीं है।

**संस्कृति**--एकता के सम्बन्ध में संस्कृति के दो रूप होते हैं, बाहरी और भीतरी। बाहरी संस्कृति का सम्बन्ध भाषा, खान-पान, रीति-रस्म, व्याह शादी आदि से होता है; और भीतरी संस्कृति का, धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों से। भारतवर्ष के सन्थाल आदि पहाड़ी अथवा जंगली आदमियों को छोड़कर, जिनकी संख्या कुल देश की जनता का बहुत ही थोड़ा हिस्सा है, दूसरी जातियों के आदमियों की संस्कृति में, उनके हज़ारों वर्षों के पारस्परिक मेलजोल और संग-साथ के कारण अजीब एकता आ गई है। आमदरफ्त के साधनों की वृद्धि ने भी इसमें बड़ी सहायता की है। दक्षिण के द्राविड़ों ने आर्यों की वर्णाश्रम आदि प्रथाओं को स्वयं आर्यों से भी अधिक अपना लिया है; और, वे अब मानो आर्य ही बन गए हैं।

कुछ आदमी हिन्दू मुसलमानों की संस्कृति अलग-अलग होने पर बहुत जोर दिया करते हैं, पर उनकी बात बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कही हुई होती है, जैसा कि रीति-रस्म या रहनसहन आदि के सम्बन्ध में ऊपर के कथन से जाहिर है। यह ठीक है कि शुरू में मुसलमानों का विशेष सम्बन्ध अरब की संस्कृति से था, और हिन्दुओं का आर्य संस्कृति से। लेकिन मुसलमानों के, यहां आकर बस जाने और सैकड़ों वर्ष हिन्दुओं के साथ मिल-जुलकर रहने से इन दोनों जातियों की संस्कृतियों की एक-

दूहरे पर गहरी छाप पड़ती गई, और दोनों संस्कृतियों के मेल से एक नई संस्कृति बनने लगी। अँगरेजों के यहां आने के समय तक संयुक्त संस्कृति की जड़ अच्छी तरह नहीं जमी थी, इसलिए वह अंगरेजों की (पाश्चात्य) संस्कृति की टक्कर सहन न कर सकी, और हिन्दू और मुसलमान दोनों अपने जुदा-जुदा आदर्शों को खोजने लग गए। फिर, अंगरेज शासकों की कुटनीति से यहाँ फरक बढ़ता गया। अब न शुद्ध रूप में हिन्दुओं की आर्य संस्कृति ही वापिस आ सकती है, और न मुसलमानों की अरबी संस्कृति ही। हिन्दू मुसलमान दोनों की बहुत-कुछ एक ही संस्कृति होगी; वह होगी, भारतीय या हिन्तुस्तानी संस्कृति।

भारतवर्ष में सर्वसाधारण जनता तो गाँवों में रहती है, और वहाँ हिन्दुओं के त्योहार मुसलमान, और मुसलमानों के त्योहार हिन्दू, खुशी से मनाते हैं। रक्षा-बन्धन के दिन मुसलमान लड़कियाँ हिन्दुओं को पौंहची बाँधती हैं दिवाली के दिन बहुत से मुसलमान भी अपने-अपने घरों पर रोशनी करते हैं। बालक बड़ी उम्र वालों को, चाहे वे किसी जाति के हों, चाचा ताऊ या बाबा आदि कहते हैं। इस प्रकार ग्राम-जीवन हमारी एकता का जीता-जागता सबूत है; और, ग्राम-निवासी हिन्दुओं और मुसलमानों की संस्कृति में विशेष अन्तर नहीं है। जो अन्तर दिखाई देता है वह अक्सर नगर-निवासियों में है, जिनकी संख्या कुल जनता में बारह-तेरह फीसदी से अधिक नहीं है। कालान्तर में इनकी संस्कृति में भी बहुत कुछ समन्वय या मेल हो जायगा; और न भी हो तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। कितने ही देशों में कई-कई संस्कृतियों के आदमी है। इस तरह संस्कृति के आधार पर भारतवर्ष के राष्ट्र-निर्माण में सन्देह करना भारी भ्रम है।

**राजनीतिक एकता**—राष्ट्रीयता के लिए एक राज्य का होना बहुत उपयोगी होता है। यदि किसी देश के अलग-अलग हिस्सों में जुदा-जुदा शासन या हुकूमतें हों तो उसके निवासियों में राजनीतिक एकता की भावना जाग्रत नहीं होती, वे हरेक बात को तंग प्रान्तीय

विचार से देखते हैं, और इसलिए उनका राष्ट्र-निर्माण का मार्ग साफ नहीं होता।

भारतवर्ष में, प्राचीन काल में चक्रवर्ती शासक होते थे। सम्राट् सबसे ऊपर माना जाता था, वैसे प्रत्येक राज्य अपना भीतरी प्रबन्ध करने में स्वतन्त्र रहता था। धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। ईसा से दो-तीन सदी पहले यहाँ बड़े-बड़े साम्राज्य बनने लगे। अब से सवा दो हजार वर्ष पहले अशोक के समय में, भारतवासियों ने एक विशाल भारतीय राज्य का निर्माण किया, जिसे संसार को उस समय की राजनीति में बेमिसाल समझा जाता है। पीछे सम्राट् अकबर ने इस देश को बहुत-कुछ राजनीतिक एकता प्रदान की, परन्तु अठारहवीं सदी में उसके उत्तराधिकारियों या वारिसों की त्रुटियों के कारण, यहाँ जुदा-जुदा ताकतों ने जोर पकड़ा और राजनीतिक फूट के कारण उस शताब्दी के पिछले हिस्से से यहाँ अँगरेजों के पाँव जमने लगे।

अँगरेजों के शासन से भारत को जो भारी नुकसान हुआ, वह खुला रहस्य है। पर यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि उनकी अधीनता में गौण रूप से भारतवर्ष की राजनीतिक एकता बढ़ी है। देश में रेल, तार, डाक आदि की व्यवस्था होने से आमदरफ्त, सम्पर्क और पत्र-व्यवहार आदि बढ़ा। अँगरेजी भाषा का प्रचार होने से अलग-अलग प्रान्तों के विद्वानों को एक-दूसरे के विचार जानने की सुविधा होनेकी बात पहले कही जा चुकी है। फिर, अँगरेजों के शासन में राजनीति का अमल हर जगह एकसा होने लगा, दासता में सब की समानता हो गई। समान परतंत्रता को हटाने के लिए संगठित आन्दोलन होने लगा; सब प्रान्तों तथा समस्त जातियों और श्रेणियों के आदमी अपने भेद-भावों को भुलाकर राजनीतिक एकता प्राप्त करने लगे और इसमें एक हद तक सफल भी हो गए।

**विशेष वक्तव्य**—राष्ट्रीयता को बढ़ानेवाली एक खास बात जनता के हानि-लाभ की समानता है। जो आदमी एक देश में रहते हों,

जिनके धर्म, भाषा, जाति और संस्कृति आदि में बहुत-कुछ समानता या मेल हो गया हो, जिनका शासन एक ही पद्धति से एक ही समुदाय द्वारा होता हो, उनके स्वार्थ तथा हानि-लाभ एक ही हो जाते हैं। इस लिए यहाँ इसका पृथक् विचार नहीं किया जाता।

इस तरह भौगोलिक स्थिति, भाषा, संस्कृति, जाति, धर्म आदि के विचार से यह स्पष्ट है कि यहाँ एकता और राष्ट्रीयता के किसी साधन की कमी नहीं है; यों थोड़ी-बहुत विभिन्नता या भेद-भाव अवश्य है, पर ऐसा तो सभी राष्ट्रों में होता है।

## चौथा परिच्छेद
# राष्ट्रीय भावों का प्रचार

*नसों में रक्त भारत का, उदर में अन्न भारत का।*
*करों में कर्म भारत का, हृदय में मान भारत का ॥१॥*
*तजो भय शोक व लज्जा, बुरी है सौख्य की सज्जा।*
*कहो हों मांस अरु मज्जा, सभी तन-प्राण भारत का ॥२॥*

—राधामोहन गोकुल जी

*"मैं भारतवर्ष के उजड़े हुए खंडहर का ज़र्रा हूँ।*
*"यही पूरा पता मेरा, यही है कुल निशाँ मेरा ॥*
*"अगर ये प्राण तेरे वास्ते, ए देश! नहिं जावें।*
*"तो इस हस्ती के तख्ते से, मिटे नामोनिशां मेरा ॥"*

—अज्ञात

**प्राक्कथन**— पहले बताया जा चुका है कि भारतवर्ष में एकता के साधन काफी मौजूद हैं। वे साधन राष्ट्रीयता में सहायक हैं, परन्तु उन सब के होते हुए भी एक बात ऐसी है, जिसके न होने से राष्ट्र मानों बिना 'ड्राइवर' की मोटर कहा जा सकता है। वह बात है, भावों की

एकता, अथवा राष्ट्रीय भावना। राष्ट्र का हरेक आदमी दूसरे के सुख को अपना सुख समझ कर उसे बढ़ाने में सहायक हो और दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानकर उसको हटाने के लिए तैयार रहे। इस प्रकार के भावों से राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में बहुत सहायता मिलती है। इस विषय का विचार करने के लिए पहले स्वदेशानुराग या देश-प्रेम की बात लें।

**स्वदेशानुराग**—चाहे कितने ही गुणों वाला क्यों न हो, जिस मनुष्य को स्वदेश से अनुराग नहीं, अपनी जाति और भाषा से प्रेम नहीं, वह मनुष्य जीता हुआ भी मरे हुए के बराबर है, और पशु से भी गया बीता है। अँगरेज महाकवि स्काट कहता है—"जिस आदमी ने अपनी जन्मभूमि से हार्दिक प्रेम नहीं किया है, वह चाहे जितना धनवान ज्ञानवान और बुद्धिमान् क्यों न हो, वह अपनी जाति का आदर और प्रेम नही पा सकता। जब तक वह जीता है उसके भाई-बन्धु उससे घृणा करते हैं, उसके मरने पर उसकी इस लोक में निन्दा होती है; उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिलती।"

सभ्य संसार में, उन्हीं देशों की गिनती होती है, जिनके निवासी स्वदेशानुराग में पगे हों। फिर, क्यों न हम अपने देश के अनुराग या मोहब्बत में रंग जायँ! हमें घूम-फिरकर विविध स्थानों की यात्रा करके अपनी मातृभूमि का दर्शन करना चाहिए। हमारा देश अच्छे जलोंवाला, चन्दन जैसे शीतल हरे-हरे खेतों वाला सफेद चाँदनी वाली निखरी हुई रातों वाला, और खुशबूदार फलों से लदेहुए पेड़ों वाला है। यह प्रकृति देवी का बहुत प्यारा क्रीड़ास्थल है। क्या आसमान को छूनेवाली पर्वत-श्रेणी, क्या ऊँची लहरें लेता हुआ नीले जल वाला अथाह समुद्र, क्या वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प वाले बाग बगीचे, क्या जंगली पशुओं से भरे हुए बन-उपवन, क्या बड़े-बड़े महलों से शोभायमान नगर, क्या हरे-भरे खेतों से घिरे हुए गाँव, क्या साधु-संन्यासियों के योगाश्रम—किसी भी दृश्य की हमारे देश में कमी नहीं है। भारत भूमि सारे जगत

की प्रदर्शनी या नुमायश कही जा सकती है। संसार की बढ़िया-से-बढ़िया चीजें प्रकृति ने यहाँ ला कर रख दी हैं, हमारी मातृभूमि जगत के ज्ञान, सभ्यता और धर्म की जननी या माताओं में है।

हिन्दुओं के प्राचीन शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य बहुत पुण्यफल से इस पवित्र कर्मभूमि भारतवर्ष में जन्म लेता है। बहुत से मुसलिम महापुरुषों की समाधियाँ और अनेक मुसलमानों की शक्ति, सभ्यता और गौरव की अनगिनत यादगारें रखने के कारण यह भूमि मुसलमानों के लिए भी पवित्र है।

क्या हमारे देश में राजा हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी, महाराजा रामचन्द्र जैसे आज्ञा-पालक, महात्मा कृष्ण जैसे योगी, पितामह भीष्म जैसे दृढ़ प्रतिज्ञा वाले, गौतम बुद्ध जैसे सुधारक, कणाद व पतंजलि जैसे दार्शनिक, युधिष्ठर जैसे धर्मात्मा, प्रताप, शिवाजी, हैदर और टीपू जैसे वीर, दयानन्द और शंकराचार्य जैसे बाल-ब्रह्मचारी, तथा अशोक, अकबर, मीरकासिम जैसे प्रजा-प्रेमी शासक पैदा नहीं हुए हैं? क्या हमारी भाषा में सूर, तुलसी, केशव रहीम, मलिकमुहम्मद जायसी और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे महाकवि नहीं हुए हैं? जब किसी बात में भी हमारा देश दूसरे देशों से, हमारी जाति दूसरी जातियों से, तथा हमारी भाषा दूसरी भाषाओं से कम नहीं, तो हम अपने देश, अपनी जाति तथा अपनी भाषा से प्रेम करने में दूसरों से पीछे क्यों रहें।

**भारत माता और उसकी सेवा**—देश-प्रेम के लिए यह ज़रूरी है कि लोगों को स्वदेश के पूरे रूप की कल्पना हो, वे उसके किसी ख़ास हिस्से को ही जन्मभूमि या मातृभूमि न मानें। हालाँकि यहाँ प्राचीन काल में धार्मिक और सांस्कृतिक एकता बनाए रखने की अच्छी कोशिश हुई, मध्यकाल में अलग-अलग हिस्सों के निवासियों का दृष्टिकोण बहुत संकुचित या तंग रहा। अब से कुछ समय पहले तक लोगों ने अपने हृदय में भारत माता के राष्ट्रीय रूप को बहुत

कम धारण किया। ज्यादातर आदमियों ने उसके एक-एक हिस्से की ही कल्पना की। वे प्रान्तीयता या साम्प्रदायिकता से ऊंचे नहीं उठ सके। किसी ने केवल हिन्दू माता के दर्शन किए, किसी ने पंचनद माता के; किसी ने बंग-माता के। इस समय भी हिन्दू राष्ट्र की पुकार सुनने में आती है। सन्तोष का विषय है कि अब विचारशीलों का दृष्टिकोण उदार और व्यापक होता जा रहा है, सर्वसाधारण अधिकाधिक संख्या में भारत-माता के पूरे स्वरूप का विचार करने लगे हैं। इस जमाने में, इस दिशा में, सबसे पहले पथ-प्रदर्शक या रहनुमाओं में स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ मुख्य हैं।

स्वामी राम ने कहा है कि "भारतवर्ष वह शरीर है, सुदृढ़ केमोरण जिसके चरण हैं, हिमालय जिसका ऊँचा सिर है। परम पवित्र गंगा और ब्रह्मपुत्र जिसके मस्तक से निकली हैं, विन्ध्याचल जिसके कमर में बँधा हुआ कमरबन्द हैं, कारोमण्डल और मालाबार जिसकी दाईं और बाईं भुजाएँ हैं, जो सब मानव-जाति से प्रेम करने को फैली हैं।"

"जैसे शैव शिव की पूजा करता है, वैष्णव विष्णु की, ईसाई ईसा की, और मुसलमान मोहम्मद की उपासना करता है वैसे प्रेम में लीन होकर मैं भारत के दृश्य को अपने हृदय में लाकर उसकी पूजा करता हूँ। जिस समय मुझे कोई भारतवासी दिखाई पड़ता है, चाहे वह शैव हो या वैष्णव, ईसाई हो या मुसलमान, पारसी हो या सिक्ख, संन्यासी हो अथवा परिया - भारत माता के हर एक लाल को - मैं मूर्तिमान भारत ही समझकर उसकी पूजा करने लगता हूँ। हे भारत माता! मैं तेरे हरेक रूप में तेरी उपासना करता हूँ। तू ही मेरी काली है, तू ही मेरा इष्टदेव है, तू ही मेरा सालिग्राम है।"

जननी-जन्मभूमि का हम पर कितना ऋण या उपकार है! उसकी गोद में हम पले हैं, उसके अन्न जल से हमारा शरीर मजबूत हुआ है, उसके मधुर फलों का हमने स्वाद लिया है, उसके घी-दूध से हमारा बल बढ़ा है। उसके कपास और ऊन से हमारा तन ढका है। उसने

हमारा मल-मूत्र सहा है, वह हमारी माँ की भी माँ है, वह हमारे अन्त-काल में हमारे भौतिक शरीर को आश्रय देगी। ऐसी आदर्श माता को कोई विवेकशील आदमी कैसे भुला सकता है! हमें उसके तरह-तरह के उपकारों को यादकर यथासंभव उसका ऋण चुकाने की कोशिश करनी चाहिए।

*"क्योंकर भला हो मुमकिन, तकलीफ न उठाएँ।*
*"बच्चे सपूत जो हों, बीमार माँ की खातिर॥*
*"सौ बार गर जनम हो, तो भी यही धरम हो।*
*"मर जायँगे, मरेंगे, हिन्दोस्ताँ की खातिर।"*

**राष्ट्रीय जयन्तियाँ और त्योहार**—राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार के लिए जरूरी है कि हम साम्प्रदायिकता या प्रान्तीयता के संकुचित विचार से ऊपर उठें; उदारता, सहिष्णुता, धार्मिक स्वतंत्रता, विचार-स्वतंत्रता, देशभक्ति, त्याग और बलिदान आदि अच्छे-अच्छे गुणों की महिमा समझें। इसका एक असली उपाय है, आदर्श वीरों या राष्ट्रीय महानुभावों का आदर करना, जयन्तियाँ मनाना। कैसा दुर्भाग्य है कि हम लोगों ने दूसरी चीजों की तरह उनका भी बँटवारा कर लिया है यह महापुरुष हिन्दुओं का है, यह मुसलमानों या ईसाइयों का! इस तरह कुछ आदमी सोचते हैं कि यह महापुरुष बंगालियों के लिए आदरणीय है, और यह महात्मा पंजाब या महाराष्ट्र वालों के लिए।

आवश्यकता है कि हम देश के हरेक महापुरुष, सुधारक, तपस्वी, त्यागी और सेवा-भावी महात्मा के गुणों का आदर करें, उसके आदर्श को सामने रखें, हर वर्ष उसकी जयन्ती मनाकर जनता को उसके शिक्षाप्रद चरित्र की याद कराते रहें। ऐसी जयन्ती मनाने में हमें चरित्रनायकों के वंश, जाति धर्म या प्रान्त के भेद-भाव का विचार न करना चाहिए। हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई महापुरुषों की जयन्तियों तथा त्योहारों में खूब उत्साह से भाग लेना चाहिए। ऐसा ही

निवेदन हम अपने मुसलमान और ईसाई आदि भाइयों से करते हैं। उनकी नजर अ संकुचित या तंग न रहकर उदार होनी चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि सब धर्मों के आचार्य तथा नेता जनता को उचित रास्ता दिखावें।

श्री० पीरमुहम्मद 'मूनिस' ने क्या अच्छा कहा है—"हिन्दुस्तान के बुजुर्ग श्री रामचन्द्र और कृष्णचन्द्र भी अपने वक्त में पैगम्बर और रसूल गुजरे हैं। फिर क्यों न हम मुसलमान इन हिन्दुस्तानी रसुलों का अपने नजदीक वही दर्जा और इज्जत तसलीम करें, जो हजरत मूसा, हजरत ईसा वगैरा की किया करते हैं। अगर हकीकत में यह सच्चा भाव, राष्ट्रीयता ही के लिहाज से क्यों न हो, हमारे मुसलिम भाइयों के नजदीक आ जाय तो मुझे बहुत-कुछ उम्मीद है कि आज दिन इन दोनों महान जातियों में जो इतनी बड़ी विभिन्नता नजर आ रही है, वह कुछ दिनों के बाद देखने में न आएगी; और दोनों जातियाँ एक दूसरे की सभ्यता और संस्कृति की कद्र करने लग जायँगी।

"आज हिन्दुस्तान का महान राष्ट्रीय त्योहार (विजयदशमी) है, जिस पर हम दोनों जातियाँ, जितना फ़ख़्र करें, थोड़ा है। इसी दिन श्री रामचन्द्र जी ने भारत की शान के लिए, सच्चाई के सिद्धान्त के लिए, मज़लूमों की हिमायत और जातियों के जुल्म का बदला लेने के लिए, लंका फ़तह की, और रावण को हलाक (बध) किया। वह त्योहार भारत के नैतिक विजय का त्योहार है। इसने दुनियाँ में इस सच्चाई को सदा के लिए कायम किया कि पाप पर पुण्य की, असत्य पर सत्य की, अधर्म पर धर्म की, पशु-बल वाले पर निर्बल की, पापात्मा पर पुण्यात्मा की विजय होती है, और होत रहेगी। क्या ऐसे पवित्र दिन को राष्ट्रीय त्योहार का दिन मानना उचित नहीं है?"

अस्तु, किसी प्रान्त के महापुरुष का जयन्ती-उत्सव उस प्रान्त के बाहर भी देश भर में उत्साह और जोश के साथ मनाया जाना चाहिए। इससे राष्ट्रीयता और मानवता का भाव उदय होने में बड़ी सहायता

मिलेगी और राष्ट्र-संगठन का कार्य बहुत आसान होगा।*

ध्यान रहे कि आदमी व्यापार या लोभ-वश अपनी दुकान, या सिग्रेट-बीड़ी, शराब आदि चीजों के नाम के साथ राष्ट्रीय नेताओं का नाम न जोड़ें जैसे गांधी चप्पल, सुभाष भोजनालय या नेहरू बीड़ी आदि।

**जनता में प्रचार**—राष्ट्रीय भावों के प्रचार के लिए दूसरे उचित उपायों तथा अवसरों का भी उपयोग करते रहना चाहिए। मिसाल के तौर पर हम अपने त्योहारों, उत्सवों और मेले-तमाशों के अवसर पर तरह-तरह से जनता में राष्ट्रीय भाव भर सकते हैं, मेलों में उपयोगी विषयों पर अच्छे-अच्छे भाषण करा सकते हैं; नशीली चीजों की मनाही, अस्पृश्यता-निवारण, स्वदेशी-वस्तु-प्रचार, समाज सुधार आदि विषयों पर मन बहलानेवाली बातचीत या प्रश्नोत्तर (सवाल-जवाब) कर सकते हैं, या सुन्दर दृश्य दिखा सकते हैं। मेजिक लालटेन, सिनेमा, और नाटकों आदि से सर्वसाधारण के मन में राष्ट्रीय आदर्शों की अच्छी छाप बैठाई जा सकती है। राष्ट्रीय गान बनवाकर उनका प्रचार करने से भी राष्ट्रीय भावों के प्रचार में बड़ी मदद मिल सकती है। सरल भाषा के मनोहर गाने बालकों को बहुत जल्दी याद हो जाते हैं, वे उन्हें सड़कों और बाजारों में गाते रहते हैं, इससे उनमें ही नहीं, सुननेवालों में भी देश-प्रेम की भावना जाग्रत होती है।

**राष्ट्रीय सप्ताह**—राष्ट्रीयता के भावों को स्थूल रूप देने के सम्बन्ध में राष्ट्रीय सप्ताह का कार्यक्रम विशेष उपयोगी है। १३ अप्रैल १९१९ को अमृतसर में अंगरेज सरकार द्वारा दमन की वह क्रूर घटना हुई थी, जिसे आम बोलचाल में 'जलियाँवाला-बाग-कांड' कहा जाता है। इसकी याद में हर वर्ष ६ से १३ अप्रैल तक 'राष्ट्रीय सप्ताह' मनाया जाता है। इस समय रचनात्मक कामों की ओर खास ध्यान दिया जाता

* इस विषय में हमारी 'श्रद्धाञ्जली' पुस्तक पढ़नी चाहिए; उसमें हिन्दू, मुसलमान और ईसाई, देशी और विदेशी, पूर्वी और पश्चिमी—सभी प्रकार के महापुरुषों के प्रति आदर और श्रद्धा जाहिर की गई है।

है, ये कार्य आगे लिखे हैं (१) साम्प्रदायिक एकता, (२) अस्पृश्यता-निवारण (३) नशाखोरी हटाना, (४) खादी-प्रचार (५) ग्रामोद्योग (६) गाँवों की सफाई, (७) बुनियादी शिक्षा, (८) प्रौढ़ शिक्षा, (६) स्त्रियों की उन्नति, (१०) स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा, (११) राष्ट्र-भाषा का प्रचार, (१२) अपनी भाषा से प्रेम; (१३) आर्थिक समानता और (१४) किसानों, मजदूरों और विद्यार्थियों का संगठन।

**स्वदेशी**—ऊपर खादी-प्रचार और ग्रामोद्योग का भी उल्लेख हुआ है। ऐसी कोशिश होनी चाहिए कि हमारे उदाहरण और अनुरोध से सर्वसाधारण स्वदेशी का व्रत धारण करें। वे यथा-सम्भव अपनी समस्त आवश्यकताओं को भारत में बनी हुई वस्तुओं से पूरा करें। कुछ वर्षों से शुद्ध स्वदेशी खद्दर के प्रचार का आन्दोलन हो रहा है; इस एक ही स्वदेशी वस्तु के व्यवहार से यहाँ के करोड़ों रुपयों का प्रति वर्ष विदेश जाना रुक गया है। अभी आन्दोलन की और भी बहुत आवश्यकता है। खेद है, बहुत से भाई-बहिनों को हाथ से कते सूत का और हाथ से बुना हुआ खद्दर मानो कांटे की तरह चुभता है। वे महीन-से-महीन कपड़ा पहिनना चाहते हैं, चाहे उसमें से बदन ही क्यों न दिखाई दे।

**मातृ-वन्दना**—हमारे बहुत से भाई नित्य पूजा-पाठ करते हैं, अपने-अपने इष्ट देवी-देवता की याद और स्तुति करते हैं। देशप्रेमी सज्जनों को चाहिए कि जननी-जन्मभूमि की पूजा और वन्दना करना अपना नित्यकर्म बनावें। वे शुद्ध उदार हृदय से भारत माता की प्रार्थना करें, उसकी प्राचीन गौरव-गाथा का पाठ पढ़ें, वर्तमान जरूरतें पूरी करने का संकल्प करें, उसके आशामयी भावी स्वरूपका चित्र अपने चित्त में जमावें और सुयोग्य माता के सुयोग्य पुत्र बनने के लिए जी-जान से उद्योग करें। [ देखिए, भारतीय ग्रन्थमाला की 'मातृवन्दना' पुस्तक। ]

## पाँचवां परिच्छेद

# राष्ट्रीय झंडा और गीत

---

*यह झंडा खेल मत समझो, यही मुल्की निशानी है।*
*इसी के आसरे मुल्कों में, कौमी कदरदानी है॥*
*समझलो मुनहसिर इस पर ही यारो ज़िन्दगानी है।*
*कटा कर सर भी अपना, फ़र्ज इसकी निगहबानी है॥*
*उठो आगे बढ़ो, इसकी बचालो शान ए यारो।*
*'बहादुर' जान रखते हो, तो इस पर जान को वारो॥*

---

*माँ की माँ है, जन्मभूमि सब की पूज्यतम्।*
*सब मिल कहिए, प्रेम से बस बन्देमातरम्।*

---

**झंडे का महत्व** – राष्ट्रीय भावों के विकास के लिए हरेक राष्ट्र का एक खास तरह का राष्ट्रीय झंडा होता है। इससे यह पता लगता है, कि उस राष्ट्र में जीवन है, और स्वतंत्रता-प्रेम यानी आजादी की मोहब्बत है। अक्सर यह झंडा यह भी बतलाता है कि उस राष्ट्र की संसार के दूसरे देशों से क्या विशेषता है। झंडे का और राष्ट्र-निवासियों का आपसी सम्बन्ध होता है। राष्ट्र के आदमी अपने झंडे में बड़ी श्रद्धा और भक्ति रखते हैं, और उसके सम्मान या इज्जत की रक्षा करने के लिए अपना जीवन सहर्ष न्योछावर करते हैं। यह झन्डा भी वहाँ रहने-वालों में उत्साह, साहस और वीरता के प्रबल भावों का संचार करता

है। राष्ट्रीय झण्डे के नीचे आकर देशवालों के सब भेद-भाव नष्ट हो जाते हैं, और सब आदमी राष्ट्र-प्रेमी होने का परिचय देते हैं। मिसाल के तौर पर अंगरेज़ अपने 'यूनियन जेक' के लिए, अनेक वीरों की बलि देने को तैयार रहते हैं। अमरीका वाले अपने 'तारा-पट को देखकर गद्गद् हो जाते हैं। जापान ने अपने 'उगते हुए सूर्य' वाले झण्डे के गौरव की रक्षा के वास्ते रूस-जापान युद्ध में कितना अनुपम त्याग किया था! 'अर्द्ध-चन्द्र' वाला झण्डा देखकर तुर्कों की नस-नस में नया खून जोश मारने लगता है। इसी तरह दूसरे सभ्य और उन्नत राष्ट्रों का उदाहरण दिया जा सकता है।

**भारतवर्ष में राष्ट्रीय झंडा; सन् १६२१ में**—भारतवर्ष के झण्डे का इतिहास बहुत पुराना है श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को 'कपिध्वज' कहा गया है; इससे मालूम होता कि महाभारत-काल में झण्डे पर हनुमान का चित्र होता था। अशोक का झण्डा गेरुआ था। गुप्तकाल में गरुड़ध्वजा का उपयोग होता था, जो वैष्णव मत-का निशान है। महाराणा प्रताप के लाल झण्डे पर सिंह का, और शिवा जी के झण्डे पर भवानी और तलवार का चित्र था।

पिछली सदियों में, देश में कोई एक ऐसा झण्डा नहीं रहा जिसे सभी लोग अपनाएँ। यह बात पहले-पहल प्रवासी भारतीयों को बहुत खटकी। क्रमशः भारतवासियों के मन में अपना एक राष्ट्रीय झण्डा बनाने का विचार पैदा हुआ कई नमूने सामने आए। सन् १६२१ में म० गांधी ने यह राय दी—

"भारतवर्ष के राष्ट्रीय झंडे में सफेद, हरा और लाल रंग रहे। लाल रंग हिन्दुओं को जाहिर करनेवाला हो, हरा मुसलमानों को, और सफेद दूसरे धर्मों को। कमजोर सम्प्रदायों के रंग को झंडे में पहले स्थान मिले, उसके बाद मुसलमानी रंग को, और उसके बाद हिन्दू रंग को। इसका मतलब यह है कि बलवान ही निर्बलों के रक्षक का काम करेगा, इसके अलावा सफेद रंग शान्ति और पवित्रता की भी निशानी

है। छोटे और बड़ों में समानता जाहिर करने के लिए तीनों रंगों को बराबर-बराबर जगह दी जाय।

"इस झंडे के एक ओर चर्खे का चित्र हो। भारतवर्ष एक महा-देश है जो इंगलैंड की तरह सहज ही में औद्योगिक देश नहीं बनाया जा सकता। हमारी एकमात्र आशा राष्ट्र के दुरुपयोग किए हुए समय का सदुपयोग करना ही होनी चाहिए, जिससे हम अपनी झोपड़ियों में रूई से कपड़े बनाकर देश के धन को बढ़ा सकें। इसी के द्वारा हम सारे संसार को सूचित करते हैं कि हमने अन्न भोजन-वस्त्र के सम्बन्ध में किसी पर जरा भी निर्भर न रहने की ठान ली है! झण्डा खद्दर का हो, क्योंकि भारत मोटे कपड़े द्वारा ही विदेशी बाजारों से स्वाधीन हो सकता है। यदि धार्मिक संस्थाएँ इस तर्क से सहमत हों तो वे अपने धार्मिक झण्डों में भी इसे रखें।"

जगह-जगह इस नमूने के राष्ट्रीय झण्डे बनाए गए। कांग्रेस-कमेटियों के दफतरों पर, ऐसी म्युनिसपेलिटियों के दफतरों पर जिनमें राष्ट्रीय दल प्रधान था, और बहुत से मकानों पर ऐसे झण्डे फहराने लगे। मान्यवर नेताओं के अभिनन्दन, स्वागत-सत्कार और जलूसों में यह झंडा बहुत जरूरी माना जाने लगा।

**झंडा-सत्याग्रह**—अधिकार-प्रेमी विदेशी अधिकारियों को हमारी राष्ट्रीयता बढ़ाने वाली दूसरी बातों की तरह इस राष्ट्रीय झण्डे से भी चिढ़ होना स्वाभाविक था। उन्होंने झण्डा निकालने वालों पर तरह-तरह के दोष लगाए और उन्हें 'कानूनी' धाराओं का शिकार बनाया। लेकिन इन बातों से लोगों में राष्ट्रीयता का प्रेम बढ़ता ही गया। सन् १९२३ ई० में नागपुर का सुप्रसिद्ध झण्डा-सत्याग्रह हुआ; अनेक नवयुवक और महिला-स्वयंसेविकाएँ झण्डे के सम्मान के लिए खुशी-खुशी जेल गईं; उन्होंने लाठी-वर्षा आदि के कष्ट सहे, पर झण्डा ऊँचा ही रखा। उस वर्ष कोकोनाडा में कांग्रेस-अधिवेशन के अवसर पर राष्ट्रपति मौलाना मोहम्मदअली ने यह राष्ट्रीय झण्डा फहराया।

उस समय से हर साल कांग्रेस में राष्ट्रीय झण्डा फहराया जाने लगा। राजनीतिक या राष्ट्रीय सभा-समितियों के अधिवेशनों का भी यह एक आवश्यक कार्यक्रम हो गया।

**झण्डा-वन्दन**—सन् १६२४ ई० से पहले राष्ट्रीय झण्डावन्दन अर्थात् झण्डे को सलामी का कोई निश्चित ढङ्ग नहीं था। उस वर्ष हिन्दुस्तानी सेवादल ने इसके नियम बनाए; उनका हर जगह पालन किया जाने लगा। श्री० श्यामलाल जी गुप्त पार्षद ने 'झण्डा ऊंचा रहे हमारा' झण्डा-गान बनाया; यह सब से पहले सन् १६२५ ई० में कानपुर के कांग्रेस-अधिवेशन में गाया गया !

## झंडा गान

*झण्डा ऊँचा रहे हमारा।*
*विजयी विश्व तिरंगा प्यारा॥*
*सदा शक्ति बरसाने वाला, प्रेम-सुधा सरसाने वाला।*
*वीरों को हरषानेवाला, मातृभूमि का तन-मन सारा॥*
*झण्डा ऊँचा रहे हमारा। १॥*
*स्वतंत्रता के भीषण रण में, लख कर जोश बढ़े क्षण-क्षण में;*
*कांपे शत्रु देख कर मन में, मिट जावे भय संकट सारा॥*
*झण्डा ऊँचा रहे हमारा॥ २॥*
*इस झण्डे के नीचे निर्भय, लें स्वराज्य वह अविचल निश्चय;*
*बोलो भारत माता की जय, स्वतन्त्रता हो ध्येय हमारा।*
*झण्डा ऊँचा रहे हमारा॥ ३॥*
*आओ, प्यारे वीरो आओ, देश-धर्म पर बलि-बलि जाओ;*
*एक बार सब मिल कर गाओ, प्यारा भारत देश हमारा।*
*झण्डा ऊँचा रहे हमारा॥ ४॥*
*शान न इसकी जाने पाए, चाहे जान भले ही जाए;*
*विश्व विजय करके दिखलाए; तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।*
*झण्डा ऊँचा रहे हमारा॥ ५॥*

सन् १६२६ की ३१ दिसम्बर की रात को बारह बजे लाहौर में रावी तट पर कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया था। तब से प्रतिवर्ष २६ जनवरी को स्वाधीनता-दिवस मनाया जाता रहा, और राष्ट्रीय झन्डा फहराया जाता रहा। सन् १६४७ में स्वाधीनता प्राप्त हो गई। अब झन्डा गान का रूप निम्नलिखित है:—

## संशोधित झण्डा गीत

विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झण्डा ऊँचा रहे हमारा ॥
सदा शक्ति बरसाने वाला,
प्रेम सुधा सरसाने वाला,
वीरों को हरसाने वाला,
मातृभूमि का तन मन सारा। झण्डा ऊँचा रहे हमारा ॥ १ ॥
प्रजातन्त्र के नव सर्जन में,
क्षण-क्षण जोश बढ़े जन-जन में,
कांपे शत्रु देख कर मन में,
मिट जाए भय संकट सारा। झण्डा ऊँचा रहे हमारा ॥ २ ॥
इस झन्डे के नीचे निर्भय,
होवे महाशक्ति का संचय,
बोलो भारत माता की जय,
सबल राष्ट्र है, ध्येय हमारा। झण्डा ऊँचा रहे हमारा ॥ ३ ॥
आओ प्यारे वीरो आओ,
राष्ट्र-ध्वजा पर बलि-बलि जाओ
एक साथ सब मिल कर गाओ,
प्यारा भारत देश हमारा। झण्डा ऊँचा रहे हमारा ॥ ४ ॥
शान न इसकी जाने पाये,
चाहे जान भले ही जाये,
मानव मात्र मुक्त हो जाये,
तब होवे प्रण-पूर्ण हमारा। झण्डा ऊँचा रहे हमारा ॥ ५ ॥

**झण्डे का रंग** पहले राष्ट्रीय झण्डे के रंग अलग-अलग जातियों को बतलानेवाले थे; और स्वतंत्र रूप से रंग सिर्फ हिन्दुओं और मुसलमानों के ही थे। इससे दूसरे लोगों को एतराज होने लगा। सिक्ख आदि जातियों ने अपने-अपने अलग-अलग रंग को झण्डे में स्थान दिए जाने की माँग की। अन्त में सन् १६३१ में फिर बहुत विचार-विनिमय हुआ। पीछे कांग्रेस-कार्यसमिति ने निश्चय किया कि राष्ट्रीय झण्डे के रंग जातियों या धर्मों के नहीं, गुणों को जाहिर करने वाले माने जाएँगे। इस विचार से झण्डे में तीन रंग रखे गए; ऊपर की पट्टी केसरिया रंग की, और त्याग बतानेवाली; बीच की पट्टी सफेद रंग की, सत्य और शान्ति बतानेवाली; नीचे की पट्टी हरे रंग की, विश्वास और प्रताप बतानेवाली। बीच की सफेद पट्टी पर गहरे नीले रंग का चर्खा बनाए जाने का निश्चय किया गया। साथ ही यह भी तय किया गया कि झण्डे की लम्बाई और चौड़ाई में तीन और दो का अनुपात रहे, और झंडे का कपड़ा खादी का अर्थात् हाथ का कता और हाथ का बुना सूती, रेशमी या ऊनी होना चाहिए!

**राष्ट्रीय झंडा, सन् १६३७ के बाद**——सन् १६३५ ई० के संविधान के अनुसार सन् १६३७ से सन् १६३६ तक गवर्नरों के ग्यारह प्रान्तों में से आठ में, कुछ अधूरा ही सही, कांग्रेस शासन रहा। इस समय इन प्रान्तों में सरकारी इमारतों पर भी तिरंगा झण्डा फहराया गया। तथापि समस्त भारतीय जनता ने इस झंडे को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया। जाति, समूह या सम्प्रदायों की विभिन्नता झंडों की अनेकता में प्रकट होती रही। साधुओं और महन्तों को तो मानो राष्ट्रीय झंडे से कुछ मतलब ही नहीं था, कुछ हिन्दू भगवा झंडे की याद बनाए रखना चाहते थे। बहुत से आर्यसमाजियों को सिर्फ ओ३म् का झंडा प्यारा था, तो कितने ही किसानों और मजदूरों को रूस का लाल झंडा ही अच्छा लगता था। इनके अलावा बहुत से साम्प्रदायिक मुसलमान राष्ट्रीय

झंडे को एक दल-विशेष का झंडा समझते, और अपना झंडा अलग रखते अथवा इंगलैंड के 'यूनियन जैक' को सिर नवाते रहे। राजाओं का भी रुख ठीक नहीं रहा; कुछ ने तो समय-समय पर इसका अपमान किया। तो भी इस झंडे ने गजब का काम कर दिखाया। इसने निहत्थी जनता को अपूर्व आत्मबल और साहस प्रदान किया। और १६४२ के आन्दोलन में उसे अधिकाधिक त्याग और बलिदान करने के लिए प्रोत्साहित किया। सन् १६४१-४५ में श्री नेता जी सुभाष बोस और आजाद हिन्द फौज के द्वारा इस झंडे को विदेशों में भी खूब प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसी का यह फल है कि स्वराज्य-प्राप्त भारतीय संघ के लिए यह थोड़े से परिवर्तन सहित सरकारी झंडा हो गया है।

**स्वतंत्र भारत का झण्डा; स्वाधीनता और बन्धुत्व का संदेशवाहक**——२२ जुलाई १६४७ को संविधान-सभा ने निश्चय किया कि कांग्रेस का केसरिया, सफेद, हरा—तिरङ्गा झण्डा भारत का राष्ट्रीय झंडा होगा, और उसके बीच, सफेद पट्टी में अशोक का धर्मचक्र अंकित रहेगा। चौड़ाई-लम्बाई का अनुपात साधारणतः २ : ३ का रहेगा। इस विषय के प्रस्ताव को पेश करतेहुए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने जो प्रभावशाली भाषण दिया, उससे इस झण्डे के उद्देश्य या संदेश सम्बन्धी बातों पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। आप ने कहा—

"यह बड़े वर्ग की बात है कि आज जिस झंडे को हम आपके बीच प्रस्तुत कर रहे हैं, वह साम्राज्यवादी झंडा नहीं है। वह दूसरे राष्ट्र पर प्रभुत्व स्थापित करने का झंडा नहीं है। बल्कि वह स्वतन्त्रता का सच्चा प्रतीक है वह हमारे लिए ही नहीं बल्कि सबके लिए स्वतन्त्रता का प्रतीक है। जहाँ भी यह झंडा जायगा—और मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह झंडा केवल वहीं नहीं जाएगा जहाँ भारतीय रहते हैं, अथवा हमारे राजदूत रहेंगे, बल्कि दूर, बहुत दूर हमारे जहाजों पर लहराता हुआ जाएगा—इस झंडे के द्वारा स्वतन्त्रता, आशा और बन्धुत्व का सन्देश हम संसार के विभिन्न देशों में पहुँचाएँगे। झंडे के

द्वारा हम यह सन्देश देंगे कि भारत सारे संसार का मित्र होकर रहना चाहता है, और जो देश गुलाम हैं, उन्हें आजाद होने में सहायता पहुँचाना चाहता है। यह झंडा आजादी, दोस्ती, आशा और बन्धुत्व का प्रतीक है। यही झंडा हमारा राष्ट्रीय गौरव है।

"इस झंडे के पीछे एक इतिहास है। यह हमारे सफल संघर्ष का सूचक है। हमारा महान उद्देश्य पूरा हो रहा है। कुछ बातें ऐसी भी हो गई हैं, जो हमें नापसन्द हैं, किन्तु हमें यह भी अनुभव करना चाहिए कि जो हमारी आकांक्षाएँ थीं, उन्हें पूरा करने के लिए अब मौका मिलेगा। हमारे स्वप्न पूरे होंगे।

'इस झण्डे के रंगों में हमारी हजारों वर्ष की राष्ट्रीय परम्परा प्रकट होती है। कलात्मक दृष्टि से यह संसार का बहुत ही सुन्दर झन्डा है।

"इस झन्डे में कुछ परिवर्तन किए गए हैं। चर्खे के निशान की जगह अशोक का गोल चक्र रखा गया है, क्योंकि चर्खा दोनों ओर से एकसा नहीं दिखता। अशोक का चक्र पुरातन भारतीय संस्कृति का ही द्योतक नहीं है, बल्कि उससे हमें यह भी ज्ञात होता है कि हमारे उद्देश्य क्या थे। अशोक का समय भारतीय इतिहास के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय युग था, जबकि भारतीय दूत और सन्देशवाहक सुदूर देशों में, साम्राज्य-वाद की भावना से नहीं, बल्कि शान्ति और सद्भावना फैलाने के लिए गए थे।"

**१५ अगस्त; राष्ट्रध्वजारोहण**—१५ अगस्त १६४७ को स्वाधीन भारत (भारतीय संघ) राष्ट्र का जन्म हुआ। उस दिन हमारे प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने उमंग से लहराते हुए जनसमुदाय के बीच दिल्ली के लाल किले पर नया राष्ट्रीय झण्डा फहराया। भारतीय संघ और उसमें सम्मिलित देशी रियासतों में यह झण्डा स्थान-स्थान पर —सरकारी इमारतों, सार्वजनिक संस्थाओं तथा लोगों के निजी मकानों पर भी—बड़े समारोह से फहराया गया। १५ अगस्त का दिन हमारे राष्ट्रीय इतिहास में अपना विशेष महत्व रखता है।

**झंडे की मर्यादा**—स्वाधीनता-संग्राम में राष्ट्रीय झंडे का अधिक-से-अधिक उपयोग आवश्यक था, और देश-प्रेमियों ने अनेक कष्ट सहकर भी उसका प्रदर्शन किया। अब देश स्वाधीन हो गया है, और यह झंडा स्वतंत्र भारत-सरकार का प्रतीक है। वर्तमान स्थिति में इसके उपयोग को मर्यादा रहनी चाहिए; अनियमित व्यवहार से इसकी प्रतिष्ठा घटती है। इसलिए सरकारी आदेश के अनुसार अब राष्ट्रीय झंडा केवल प्रमुख सरकारी इमारतों पर रहेगा, जैसे हाईकोर्ट, सचिवालय (सेक्रेटेरियट), कमिश्नरों के दफ़्तर, अदालतें, जेल, जिलाबोर्ड और म्युनिसपेलटियों के दफतर, सीमा-क्षेत्र के विशेष स्थान, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मंत्रियों, चीफ-कमिश्नरों, विदेशों के प्रतिनिधियों, राजाओं और राजप्रमुखों के निवास-स्थान आदि।

मोटरों के सम्बन्ध में झंडे का उपयोग केवल केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मंत्रियों, विधान सभाओं के अध्यक्षों, चीफ-कमिश्नरों, विदेशों के प्रतिनिधियों, राजाओं और राजप्रमुखों की मोटरों तक ही परिमित रहेगा।

स्वाधीनता-दिवस, राष्ट्रीय सप्ताह, म० गांधी के जन्म दिवस, और अन्य राष्ट्रीय उत्सवों पर सर्व-साधारण द्वारा झंडे के उपयोग पर कोई प्रतिबन्ध न होगा।

यह अत्यन्त आवश्यक है कि राष्ट्रीय झंडे के उपयोग की इस मर्यादा का यथेष्ट ध्यान रखा जाय। विज्ञापनों या साइनबोर्ड अथवा साधारण मकान या पोशाक आदि पर झन्डा लगाना उसका अपमान करना है। यह झन्डा कोई फेशन, शौक या प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। नागरिकों को इसका सोच-समझ कर निर्धारित सीमाओं में ही उपयोग करना चाहिए।

× × ×

**राष्ट्र-गीत; बन्देमातरम् की शक्ति**—संसार के हरेक देश में राष्ट्रीय झण्डे की तरह राष्ट्र-गीत का भी बहुत आदर होता है। हरेक स्वाभिमानी राष्ट्र का अपना-अपना राष्ट्र-गीत है, जो सार्वजनिक

उत्सवों तथा सभाओं आदि में गाया जाता है, और वहां सुननेवालों में जीवन और उत्साह का संचार करता है। हमें यहाँ भारतवर्ष के राष्ट्र-गीत के विषय में विचार करना है। यद्यपि यहाँ 'बन्देमातरम्' की रचना किसी संस्था द्वारा, राष्ट्र-गीत के रूप में, नहीं की गई, और न उसके प्रचार के लिए कोई खास सरकारी या गैर-सरकारी आन्दोलन ही हुआ, तो भी यह वह गीत है जिसने उत्तर से दक्षिण तक लोगों को देशभक्ति तथा वीरता के भावों से ओतप्रोत कर दिया है; जिसने हजारों नवयुवकों को स्वेच्छाचारी अधिकारियों का विरोध करके, जेल की मुसीबतें और तरह-तरह की चोटें सहने की सामर्थ्य दी है। यह गीत प्रवासी भारत-वासियों में स्वदेशाभिमान का संचार करने में सफल हुआ है। इसकी प्रेरणा से हिन्दू और मुसलमान कंधे-से-कंधा भिड़ाकर राष्ट्रीय संग्राम में उतरे हैं। १६१६-२० ई० और उसके बाद के आन्दोलनों में वह भी एक अजीब नजारा होता था, जब पुलिस कर्मचारी जनता की सार्वजनिक सभाओं को भंग करने के लिए, या विदेशी वस्त्रों पर धरना देनेवाले युवकों तथा महिलाओं को उनके काम से हटाने के लिए, अत्याचार और ज्यादती करते थे, और भारतीय पुरुष और स्त्रियाँ ऊँची आवाज से 'बन्देमातरम्' का नारा लगातीं और पुलिस की नई चोट सहने के लिए तैयार हो जाती थीं। इस तरह इस गीत की अनोखी शक्ति के अनेक सबूत मिले हैं।

**गीत की रचना और प्रचार**—इस गीत की रचना भारत के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री० बंकिमचन्द्र जी चटर्जी ने स्वतन्त्र रूप से की थी, पीछे इन्होंने इसे अपने 'आनन्दमठ' नाम के उपन्यास में स्थान दिया, जो सन् १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ। इन्होंने उस समय की प्रवृत्ति के अनुसार इसका सम्बन्ध अंगरेजी राज की प्रशंसा के साथ किया था। उस समय इस गीत का विशेष प्रचार नहीं हुआ। पीछे, जब बंग-विच्छेद आदि की अप्रिय घटनाओं से भारतवासी ब्रिटिश राज की मोह-माया छोड़ने लगे और विदेशी शासन से छुटकारा पाने पर

कटिबद्ध हुए तो 'बन्देमातरम्' उनके लिए एक बड़ी शक्ति बढ़ानेवाला मन्त्र सिद्ध हुआ। बिना किसी संगठित सहायता के यह गीत घर-घर पहुँच गया। इस गीत के लिए लोगों ने जुर्माना, कैद, लाठी-वर्षा—क्या नहीं सहा! धीरे-धीरे जमाना बदला। बन्देमातरम् की दीक्षा पाए हुए सज्जनों ने सन् १६३७-३६ में ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में शासन-सूत्र तक ग्रहण किया!

**सम्प्रदायवादियों का विरोध**—इस समय भी इस राष्ट्र-गीत को विरोध तो सहना ही पड़ा। यह विरोध था, सम्प्रदायवादियों की ओर से। कुछ मुसलिम नेताओं का यह मत रहा कि यह गीत राष्ट्र-गीत नहीं है; इसमें हिन्दू धर्म के चिन्हों की, मूर्ति पूजा आदि की, भावना है; यह इस्लाम विरोधी है। इन बातों में कोई सार नहीं था। यह ठीक है कि 'आनन्द-मठ' में मुसलमानों के शासन के प्रति विद्रोह भाव है। लेकिन असल में यह विद्रोह तो पराधीनता के प्रति है। फिर, जैसा ऊपर कहा गया है, बन्देमातरम्' गीत की रचना 'आनन्द-मठ' से पहले स्वतन्त्र रूप से हुई है। इसलिए उस उपन्यास में स्थान दिए जाने के कारण, मूल गीत की भावना में दोष निकालना अनुचित है। तो भी कुछ मुसलमानों के ऊपर बताए हुए विरोध के कारण कांग्रेस ने यह निश्चय किया कि राष्ट्रीय सभाओं में इस गीत के प्रथम दो ही पद गाए जायँ; जो प्रायः गाए जाते हैं पूरा गीत आगे लिखा है:—

## बन्देमातरम्

*सुजलाम् सुफलाम् मलयज शीतलाम्*
*शस्य - श्यामलाम मातरम् ॥ बन्दे० ॥*
*शुभ्र - ज्योत्सना - पुलकित - यामनीम्*
*फुल्ल - कुसुमित - द्रुमदल - शोभनीम्*
*सुहासनीम् सुमधुर - भाषिणीम्*
*सुखदाम् वरदाम् मातरम् । बन्दे० ॥ १ ॥*

*त्रिंश-कोटि कंठ - कलकलनिनाद-कराले,*
*द्वित्रिंशकोटि भुजैर्धृतखर-करवाले,*
*के बोले मा तुमि अवले?*
*बहुबल धारिणीम् नमामि तारिणीम्*
*रिपुदल वारिणीम् मातरम् । बन्दे० ॥ २ ॥*
*तुमि विद्या, तुमि धर्म,*
*तुमि हृदि, तुमि मर्म,*
*त्वं हि प्राणः शरीरे,*
*बाहुते तुमि मा शक्ति,*
*हृदये तुमि भक्ति*
*तोमरई प्रतिमा गड़ी मन्दिरे मन्दिरे । बन्दे० ॥ ३ ॥*
*त्वं हि दुर्गा दशप्रहरण धारिणी*
*कमला कमलदल विहारिणी*
*वाणी विद्यादायिनी नमामि त्वाम् ।*
*नमामि कमलाम्, अमलाम् अतुलाम्*
*सुजलाम् सुफलाम् मातरम् ॥ बन्दे० ॥ ४ ॥*
*श्यामलाम् सरलाम् सुस्मिताम् भूषिताम्*
*धरणीम् भरणीम् मातरम् ॥ बन्दे० ॥*

**दूसरा राष्ट्र-गीत 'जन गण मन अधिनायक'**—सभाओं का संचालन करनेवालों को यह स्वतन्त्रता रही कि वे 'बन्देमातरम्' के अतिरिक्त, या उसकी जगह दूसरा कोई ऐसा गीत गावें, जो आपत्ति-जनक न हो। तथापि कुछ समय पहले तक 'बन्दे- मातरम्' गान का ही विशेष उपयोग होता रहा। इधर कुछ अधिकारियों का झुकाव 'जन गण मन अधिनायक' गीत की ओर रहा। यह गीत इस प्रकार है :—

*जनगणमन—अधिनायक जय हे भारत-भाग्य-विधाता ।*
*पंजाब सिन्ध गुजरात मराठा द्राविड उत्कल बंग,*
*विन्ध्य हिमाचल यमुना गंगा उच्छल जलधि-तरंग,*

तव शुभ नामे जागे तव शुभ आशिष मांगे,
गाहे तव जय गाथा।
जनगण-मंगलदायक जय हे भारत-भाग्य-विधाता
जय हे ! जय हे ! जय हे !
जय जय जय, जय हे ॥ १ ॥

अहरत तब आह्वान प्रचारित सुनि तव उदार बानी
हिन्दू बौद्ध सिख जैन पारसिक मुसलमान क्रिस्तानी,
पूरब पश्चिम आशे तव सिंहासन पासे
प्रेमहार हय गाथा।
जनगण-ऐक्यविधायक जय हे भारत - भाग्य - विधाता
जय हे ! जय हे जय हे !
जय जय जय, जय हे ॥ २ ॥

पतन-अभ्युदय बंधुरपंथा, युग-युग-धावित यात्री
हे चिर सारथि, तव रथचक्रे मुखरित पथ दिनरात्री
दारूण विप्लव माझे तव शंखध्वनि बाजे
संकट - दुख - त्राता।
जनगण - पथ परिचायक जय हे, भारत - भाग्य - विधाता
जय हे ! जय हे ! जय हे।
जय जय जय, जय हे ॥ ३ ॥

घोर तिमिर घन निविड निशीथे पीडित मूर्च्छित देशे
जाग्रत छिल यव अविचल मंगल नत नयने अनिमेषे
दुःस्वप्ने आतंके रक्षा करीले अंके,
स्नेहमयी तुमि माता।
जनगण - दुःखत्रायक जय हे भारत - भाग्य - विधाता
जय हे ! जय हे ! जय हे।
जय जय जय, जय हे ॥ ४ ॥

*रात्रि प्रभातिल उदिल रविच्छवि पूर्व-उदयगिरि-माले,*
*गाहे बिहंगम, पुण्य समीरण नवजीवन रस ढाले।*
*तव करुणारुण रागे निद्रित भारत जागे,*
*तव चरणे नत माथा*
*जय जय जय हे, जय राजेश्वर, भारत-भाग्य-विधाता !*
*जय हे ! जय हे ! जय हे !*
*जय जय जय, जय हे ॥ ५ ॥*

**दोनों गीतों की तुलना**—दोनों ही गीतों की भाषा बंगला, और उच्च कोटि की बंगला है। यही कारण है कि संस्कृत-निष्ठ हिन्दी, मराठी, तेलगू, गुजराती आदि भाषाओं के वे बहुत निकट हैं। दोनों में राष्ट्र-सम्मान और भक्ति की भावना ओतप्रोत है। 'जन गण मन अधिनायक' गीत महाकवि रवीन्द्र ठाकुर की रचना है। इसके समर्थन में कहा जाता है कि इसकी राग और लय अधिक आकर्षक है; दूसरे, संगीत के साथ इसका मेल ठीक बैठता है। गत वर्षों में आजाद हिन्द फौज ने इसे अपनाया था, और दक्षिण-पूर्वी एशिया में इसने लोकप्रियता प्राप्त करली है। भारतीय सेना में इसका उपयोग होता है, और विदेशी राजदूतों ने इसकी प्रशंसा की है। परन्तु 'वन्देमातरम' की विशेषता यह है कि इसने पराधीन भारतीयों में नवजीवन का संचार किया है और उन्हें राष्ट्र की वेदी पर हंसते-हंसते न्योछावर होने को तैयार किया है। इसे भारतवर्ष को स्वाधीन करने का सुयश प्राप्त है, इसकी पृष्ठभूमि में भारतीय राष्ट्र का सुदीर्घ और गौरवपूर्ण इतिहास निहित है। ये बातें 'जन गण मन अधिनायक' में कहाँ हैं ! रही स्वर, ताल और लय आदि की बात; उनका उपर्युक्त गुणों की अपेक्षा अधिक महत्व नहीं। तथापि राष्ट्र-गीत के रूप में 'जन गण मन अधिनायक, गीत को प्रथम स्थान दिया गया है। यों वन्देमातरम भी गाया जासकता है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी में सरल, भाव-पूर्ण राष्ट्र-गीत की बहुत आवश्यकता है। योग्य कवियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

# छठा परिच्छेद
# शिक्षा और साहित्य

—:-:—

*हमारी शिक्षा से पराधीनता, गरीबी, बीमारियाँ, अज्ञानता और असमानता—ये पाँच चीजें चली जानी चाहिएँ और देहाती लोगों की आमदनी (मजदूरी) बढ़नी चाहिए।*

*—किशोरीलाल मश्रूवाला*

*राष्ट्र के जीवन तथा उसके अस्तित्व का आधार साहित्य ही है। साहित्य में राष्ट्र के प्राण हैं। जिस अनुपात से साहित्य उन्नत होता है, उसी अनुपात से राष्ट्र भी जीवित रहता है। साहित्य का निर्माण, राष्ट्र का निर्माण है।* *—शुकदेवप्रसाद*

## (१) शिक्षा

राष्ट्रीयता के प्रचार में शिक्षा और साहित्य का महत्वपूर्ण भाग होता है। इसमें पहले शिक्षा का विचार करें। इस सम्बन्ध में पहले तो यही बात हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि देश में निरक्षरता बहुत है, और इस शीघ्र दूर किया जाना चाहिए।

**निरक्षरता-निवारण**—भारतवर्ष के स्वतंत्र होने पर सरकार को यहाँ लगभग ८५ प्रतिशत आदमी निरक्षर मिले। यह निरक्षरता राष्ट्र के लिए बहुत अशोभनीय तथा हानिकारक है। फिर, नए संविधान के अनुसार भारत एक जनतंत्र राज्य होगा, यहाँ बालिग मताधिकार होगा। यह तभी सफल होगा, जब सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार होगा।

यह विचार किया गया है कि पाँच वर्ष के भीतर कम-से-कम ५० फी सदी जनता प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करले। ऐसा प्रबन्ध किया जा रहा है कि उच्च शिक्षा पानेवाले व्यक्ति कुछ दिन शिक्षक का काम करें। संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त आदि प्रान्तों में प्राइमरी स्कूल बड़े पैमाने पर खोले जा रहे हैं। अनेक उत्साही सज्जन स्वयं अपनी इच्छा से शिक्षा-प्रसार में लगे हुए हैं। वास्तव में केवल सरकार के सहारे ऐसा बड़ा काम जल्दी पूरा नहीं हो सकता। शिक्षित नागरिकों को अपने भाई-बहिनों का अज्ञानान्धकार दूर करने में भरसक भाग लेना चाहिए।

**शिक्षा-पद्धति**—शिक्षा-प्रचार के साथ हमें शिक्षा-पद्धति का भी विचार करना चाहिए। अंगरेजों के शासन-काल में यहाँ शिक्षा-प्रचार तो कम हुआ ही, शिक्षा-पद्धति भी बहुत दूषित रही। उन्होंने अंगरेजी की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया, जिसका मूल उद्देश्य सरकार को सस्ते क्लर्क आदि मिलने के अलावा, यह था कि 'भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी तैयार हो जाय, जिसके आदमी रक्त और रंग में तो भारतीय ही रहें, परन्तु रुचि, विचार, भाषा और भावों में पूरे अँगरेज हों।' उन्नीसवीं सदी के आखरी हिस्से में लोगों का ध्यान उस समय की शिक्षापद्धति के दोषों की ओर गया। यह विचार किया जाने लगा कि देश में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे विद्यार्थियों के हरेक कार्य और विचार में स्वावलम्बन और स्वाधीनता का भाव हो, वे अपने व्यवहार में जननी जन्म-भूमि के हित का ध्यान रखें। इन विचारों के कारण यहां ऐसी संस्थाएँ बनाई जाने लगीं, जो सरकारी नियन्त्रण से मुक्त रहें, राष्ट्रीय भावों वाली हों, और देश की सभ्यता की रक्षा करनेवाली तथा औद्योगिक ज़रूरतों को पूरा करनेवाली हों। इन संस्थाओं का कार्य प्रशंसा के योग्य होते हुए भी, इनका क्षेत्र तथा संख्या बहुत कम रही। हां, इनकी कोशिश से, यह बहुत-कुछ मालूम हो गया कि भविष्य में हमारी शिक्षा की दिशा क्या हो, क्या आदर्श रहें, और किन-किन गलतियों से बचा जाय।

**बुनियादी शिक्षा और नई तालीम**—सन् १६३७ ई० में प्रांतों में प्रजातन्त्री सरकारों की स्थापना हो जाने पर खासकर कांग्रेस-सरकारों ने शिक्षापद्धति में नए सिरे से परिवर्तन करने का निश्चय किया। महात्मा गांधी की प्रेरणा से बुनियादी ('बेसिक') शिक्षा की योजना बनाई गई। इसकी खास-खास बातें ये थीं—सब बालकों के लिए उनकी मातृभाषा में सात साल की मुफ्त और अनिवार्य (लाज़मी) शिक्षा का प्रबन्ध हो; शिक्षा का आधार या केन्द्र किसी प्रकार की उत्पादक दस्तकारी होनी चाहिए; शिक्षा के दूसरे विषयों (भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान और आलेख्य या ड्राइङ्ग आदि) का सम्बन्ध यथा-सम्भव उस दस्तकारी से होना चाहिए। उस दस्तकारी का चुनाव बालकों के वातावरण, और उस जगह की हालत को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। प्रयोग के लिए कताई बुनाई बुनियादी दस्तकारी मानी जाय और नागरिक ज्ञान ('सीविक्स') आदि समाज-शास्त्र की शिक्षा दी जाय।

ऐसी शिक्षा से हाथ और दिमाग दोनों की शक्ति का विकास साथ-साथ होता है। बालकों के मिलजुल कर काम करने से जात-पांत का बन्धन टूट जाता है, तथा सब के दिल में श्रम या मेहनत का आदर बढ़ता है। आर्थिक दृष्टि से यह लाभ है कि इस पद्धति से शिक्षा का कुछ खर्च निकल आने के अलावा लोगों की धन पैदा करने की ताकत बढ़ती है और वे अपने खाली समय का उपयोग करने योग्य होते हैं। नागरिक ज्ञान की शिक्षा से भावी नागरिकों को इस बात का अवसर मिलता है कि वे देश की समस्याओं को, तथा अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को समझें और इस प्रकार सच्ची देशभक्ति का परिचय दें तथा प्रजातन्त्री भावनाओं का उपयोग करें। मातृभाषा द्वारा शिक्षा प्राप्त करने से विद्यार्थियों में विविध विषयों को भली भाँति समझने, उनपर साफ और शुद्ध विचार करने, और अपने विचार दूसरों पर बातचीत या लेख द्वारा प्रकट करने की योग्यता होती है; वे अपने राष्ट्र

की भावनाओं तथा आकाँक्षाओं से परिचित रहते हैं और राष्ट्र की उन्नति में अमली तौर से हिस्सा ले सकते हैं।

जगह-जगह बुनियादी शिक्षा-संस्थाएँ कायम की गईं और काम खूब जोश से होने लगा था। लेकिन सन् १६३६ में काँग्रेसी मंत्रिमंडलों के इस्तीफे के बाद इस ओर उपेक्षा की जाने लगी। सन् १६४२ के दमन से तो यह काम बहुत-कुछ रुक ही गया था। दो साल बाद इस तरह फिर ध्यान दिया जाने लगा!

काँग्रेस की ओर से स्थापित हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की देखभाल में पिछले वर्षों में नई तालीम के बारे में तरह-तरह के अनुसंधान और प्रयोग किए गए। १६४४ में म० गांधी ने देशवासियों की समग्र शिक्षा यानी पूरी तालीम का विचार प्रकट किया—सात वर्ष की उम्र से पहले की पूर्व बुनियादी शिक्षा, ७ वर्ष से १४ वर्ष तक की बुनियादी शिक्षा, चौदह वर्ष से बाद की उत्तर-बुनियादी शिक्षा, और इन तीनों के अलावा दूसरे नागरिकों के लिए प्रौढ़ शिक्षा। समग्र शिक्षा के सम्बन्ध में यथा-संभव प्रगति होती रही है।

**धार्मिक शिक्षा**—भारतवर्ष में कई धर्मों और जातियों के आदमी रहते हैं। इसलिए यहाँ सरकार की ओर से किसी एक धर्म को विशेष सहायता या प्रोत्साहन मिलना या उसकी शिक्षा का इन्तजाम होना ठीक नहीं है। हाँ, धर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रचार की व्यवस्था होनी उचित है, और मूल सिद्धान्त सब धर्मों के एकसे ही होते हैं! साथ-ही-साथ, राष्ट्र-धर्म की भी शिक्षा दी जाने की जरूरत है। राष्ट्र-धर्म से हमारा मतलब यह है कि हम बौद्ध, जैन, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या पारसी किसी भी मत के माननेवाले क्यों न हों, एक जन्मभूमि या मातृभूमि की संतान होने के कारण, सब आपस में भाईचारा रखें, और देश-सेवा को अपना परम धर्म समझें।

**इतिहास की शिक्षा**—राष्ट्रीय शिक्षा में हरेक विषय इस विचार से पढ़ाया जाना चाहिए कि उसका राष्ट्रीय जीवन में उपयोग

हो। भारतवर्ष में खासकर साम्राज्यवादी अंगरेज लेखकों ने इतिहास को ऐसा रूप दिया है कि वह साम्प्रदायिक द्वेष बढ़ाने का साधन हो गया है। उसे पढ़कर हिन्दू विद्यार्थी तो यह अनुभव करता है कि मानो उसके सामने ही उसके धर्म पर हमला हो रहा है, और मुसलमानों में हिन्दू वीरों के गुणों का आदर करने की भावना पैदा नहीं होती। यह ठीक है कि कुछ भारतीय शासकों ने समय-समय पर बड़ी भूल की, तथा अनुदारता का बर्ताव किया। पर, क्या हम सिर्फ दोषों को ही ढूंढ़ते रहें? हमारे यहाँ कितनी ही घटनाएँ ऐसी हुई हैं, जिनसे हिन्दू-मुसलमानों के आपसी प्रेम, उदारता और भाईचारे का परिचय मिलता है। जरूरत है कि हमारा इतिहास नए ढंग से, सहानुभूति रखनेवाले लेखकों द्वारा लिखा जाय। अब भारतीय-इतिहास-परिषद आदि संस्थाओं द्वारा यह शुभ कार्य होने लग गया है।

**शिक्षा का माध्यम**––अंगरेजों ने अपने शासन में यहां अंगरेजी भाषा को बेहद महत्त्व दिया। अनेक स्थानों में प्रायः चौथी कक्षा से ही अंगरेजी की पढ़ाई अनिवार्य कर दी और उसे ही माध्यमिक और उच्चशिक्षा का माध्यम बना दिया। यह स्थिति सर्वथा अस्वाभाविक थी। बहुत आन्दोलन करने पर माध्यमिक शिक्षा भारतीय भाषाओं द्वारा दी जाने लगी, और उच्च परीक्षाओं में भारतवर्ष की प्रमुख प्रॉतीय भाषाओं को भी स्थान दिया जाने लगा। परन्तु इतने समय की पराधीनता ने हमारे बहुत से शिक्षितों को अंगरेजी भाषा का बहुत ही अभ्यस्त, प्रशंसक और समर्थक बना दिया है। वे शिक्षा के सम्बन्ध में भाषा के प्रश्न पर राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करने के अयोग्य या असमर्थ हो गए हैं।

**उच्च शिक्षा और परिभाषिक शब्द**––यह एक मुख्य कारण है कि उच्च शिक्षा के माध्यम का विषय बहुत विवाद-ग्रस्त बना हुआ है। दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे दिग्गज विद्वान—प्रोफेसर, वाइसचान्सलर, और शिक्षाधिकारी—यह निर्णय नहीं कर सकते कि राष्ट्र-भाषा के रूप

में हिन्दी ही अंगरेजी को उसके पद से हटा सकती है। हिन्दी में राष्ट्र-भाषा बनने की कितनी क्षमता है, यह हम पहले बता आए हैं। उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो जाने पर यहाँ विविध भागो के विद्वानों में विचारों का आदान-प्रदान कितनी सरलता से होगा, और वे एक दूसरे के निकट आकर यहाँ राष्ट्रीयता की भावना को कितना बढ़ाएँगे, यह स्पष्ट ही है।

हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने में हमारे अंगरेजी-प्रेमियों को सबसे बड़ी बाधा पारिभाषिक शब्दों की प्रतीत होती है। इसका उपाय यही है कि यह निश्चय कर दिया जाय कि अब से दो वर्ष में उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी होगी, जिससे विद्वान लेखक हिन्दी में यथेष्ट साहित्य तैयार करने लगें। कुछ व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने साहित्य कार्य किया है। सीमित रूप में इसका संक्षिप्त परिचय हमारी 'हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य' पुस्तक में दिया गया है। हमने अपने परिमित साधनों के अनुसार 'अर्थशास्त्र शब्दावली' और 'राज-नीति शब्दावली' प्रकाशित की है। अब इस दिशा में सरकारी और गैर-सरकारी प्रयत्न बढ़ता जा रहा है। भारत सरकार ने संविधान सम्बन्धी शब्दों पर विविध भाषाओं के प्रतिनिधियों से विचार-विनिमय करा कर पारिभाषिक शब्दावली प्रकाशित की है, उसका हमने अपनी 'राजनीति शब्दावली' में समावेश किया है।

[कोष बनाने में विचार करने की पहली बात संस्कृत के शब्दों के उपयोग की है। हिन्दी में दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक, नीति और धर्म आदि विषयों का पुराना साहित्य बहुत है, और उसमें पारिभाषिक शब्द संस्कृत के आधार पर हैं। विज्ञान आदि के लिए नवीन शब्दों की आवश्यकता होने पर उन्हें संस्कृत से बनाया जाना स्वाभाविक है। ऐसा करने से हिन्दी भाषा भारतवर्ष की विविध प्रान्तीय भाषाओं के निकट रह सकती है। परन्तु हमें व्यर्थ ऐसा प्रयत्न न करना चाहिए कि हमारा हरेक पारिभाषिक शब्द ठेठ संस्कृत से ही निकला हुआ हो।

यदि हम ऐसा करेंगे तो हम अन्ततः अपनी भाषा के सब से बड़े शत्रु प्रमाणित होंगे। साम्प्रदायिक कट्टरता की भाँति, भाषा सम्बन्धी कट्टरता भी बहुत घातक होती है। अगर हम हिन्दी से अन्य भाषाओं के उन सभी शब्दों को निकाल बाहर करें, जो पिछली कई सदियों में हमने धीरे-धीरे पचाए और अपनाए हैं तो हिन्दी में क्या रह जायगा! वह राष्ट्र-भाषा तो क्या, एक साधारण अच्छी भाषा भी न रह पाएगी। निदान, हमें अपनी पारिभाषिक शब्दावली से अन्य भारतीय भाषाओं के तथा अरबी, फारसी, अंगरेज़ी आदि विदेशी भाषाओं के प्रचलित या सरल शब्दों का बहिष्कार नहीं करना चाहिए। आवश्यकतानुसार दूसरी भाषाओं से भी शब्द लेना और उन्हें अपनाते रहना ही किसी भाषा के जीवन का लक्षण है। किसी जाति की तरह किसी भाषा का भी पूर्णतया शुद्ध बने रहने का अभिमान असत्य, भ्रममूलक और बिनाशकारी है।

**क्या प्रान्तीय उपभाषाएँ प्राथमिक शिक्षा का माध्यम बनें?**—हिन्दी क्षेत्र के कुछ आदमी अपने-अपने प्रदेश की उपभाषा या बोली को प्राथमिक शिक्षा का माध्यम बनाने का आन्दोलन करते हैं। वे हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रचलित करने को साम्राज्यवादी शोषण कहते हैं। हम यह स्वीकार करते हैं कि इन उपभाषाओं और बोलियों ने हिन्दी की उन्नति या विकास में बड़ी सहायता प्रदान की है। उनके प्राचीन साहित्य का अनुसंधान करना, उनके लोकगीतों, कहावतों और शब्दों का संग्रह करना बहुत उपयोगी और आवश्यक है, उन्हें साहित्य सम्बन्धी उच्च परिक्षाओं में एक विषय के रूप में रखना भी ठीक है। पर उन्हें प्राथमिक शिक्षा का माध्यम बनाना और हिन्दी को इस विषय में गौण स्थान देना तो जनता की प्रगति या विकास को रोकना और सांस्कृतिक एकता में बाधा उपस्थित करना है। हमें इस अराष्ट्रीयता और प्रतिगामिता से बचने की अत्यन्त आवश्यकता है।

**घरों में शिक्षा**—बालकों की शिक्षा सबसे पहले घरों में होती

है, और उनकी पहली अध्यापिका माताएँ ही होती हैं। बालकों के भविष्य की नींव माताएँ ही डालती हैं। यह उन्हीं पर निर्भर है कि बालकों के आदर्श कितने ऊँचे होंगे, और उनमें स्वावलम्बन और देशभक्ति आदि गुणों का विकास कहाँ तक होगा। इस लिए यह जरूरी है कि खुद स्त्रियों के विचार बहुत ऊँचे हों। उनकी शिक्षा का काफी इन्तजाम होना चाहिए। माता-पिता को चाहिए कि अपनी सन्तान को बचपन से ही देशभक्ति और उदारता की मनोहर कथा-कहानियाँ सुनावें, जिससे उनके कोमल हृदयों पर अच्छा और स्थायी प्रभाव पड़े।

**प्रौढ़ शिक्षा**—इसी प्रकार उन प्रौढ़ यानी बड़ी उम्र वाले स्त्री-पुरुषों की राष्ट्रीय तथा राजनीतिक शिक्षा का इन्तजाम करने की आवश्यकता है, जो किसी संस्था में बाकायदा नहीं पढ़ सकते। उनके लिए सभाएँ और समाचारपत्र आदि बहुत सहायक होते हैं। जगह-जगह रात्रि-पाठशालाएँ, पुस्तकालय और वाचनालय खोले जाने चाहिएँ। इसके अलावा हरेक राष्ट्र-प्रेमी का कर्तव्य है कि अपने हल्के में वह जिन मित्रों, पड़ोसियों, सम्बन्धियों तथा गांव और नगरवालों से मिले, उनसे बातचीत और विचार-विनिमय करके उन्हें देश की हालत और जरूरतें समझावें।

म० गाँधी के शब्दों में "प्रौढ़ शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो स्त्री पुरुषों को हर तरह बेहतर नागरिक बनाए।...किताबें होंगी पर वे विद्यार्थी के बजाय शिक्षकों के काम की अधिक होंगी। हमें बहुमत को यह सिखाना होगा कि वे अल्पमत वालों के साथ कैसा बर्ताव करें और यही अल्पमत वालों को भी सिखाना होगा। ठीक ढङ्ग की प्रौढ़ शिक्षा लोगों को पड़ोसियों का भाईचारा सिखाएगी और इस तरह अस्पृश्यता और साम्प्रदायिक समस्या की जड़ पर ही कुठाराघात करेगी।...हमें गाँव वालों को सहकारिता की भी शिक्षा देनी है। एकसे काम के लिए पुरुषों को स्त्रियों से दुगुनी मजदूरी मिलती है, कभी-कभी पुरुष

आराम से बैठकर चिलम पीते हैं, जबकि स्त्रियों को सारा दिन काम करना पड़ता है ! लोगों को सिखाना चाहिए कि यह अन्याय है, और यह खत्म होना चाहिए ।"

इससे साफ जाहिर है कि शिक्षा का कार्य कितना व्यापक है; उससे हमारी सभी राष्ट्रीय कमजोरियों और कमियों के दूर होने में मदद मिलनी चाहिए ।

## (२) साहित्य

**साहित्य और भारतीय राष्ट्र**—साहित्य और राष्ट्र का गहरा सम्बन्ध है । जहाँ साहित्य अच्छा है, जहाँ राष्ट्र भी बलवान है; और जहाँ साहित्य गिरी हुई हालत में है, वहाँ राष्ट्र भी लड़खड़ाता हुआ तथा कमज़ोर है । जिस तरह प्राण निकल जाने से शरीर मुर्दा हो जाता है, उसी तरह साहित्य के नाश होने पर राष्ट्र भी जिन्दा नहीं रह सकता । भारतवर्ष की बात लीजिए । जब यहाँ संस्कृत साहित्य का प्रबल प्रवाह था तथा वेदों और उपनिषदों का डंका बज रहा था, तब यहां के महात्मा और ऋषी जगद्मान्य थे, राजा चक्रवर्ती थे, देश धन-धान्य से भरा था । पीछे साहित्य का उलट-फेर हुआ तो राष्ट्र में भी उथलपुथल हो चली; आपसी कलह और विलासिता ने घर कर लिया । तुलसी, कबीर, नानक आदि महात्माओं के अच्छे ग्रन्थों ने नवजीवन का संचार किया, तो यहाँ बहुत से भक्त हुए । वीर रस के साहित्य के प्रभाव से हमने विविध संकटों को झेलते हुए भी अपने आपको बनाए रखा । जब फारिस की कविता के आधार पर यहां बाजारी लड़के-लड़कियों के प्रेम-रस की गुजलों ने जोर पकड़ा तो लैला-मजनू, शीरीं-फरहाद, गुलबकावली और चन्द्रकान्ता आदि का नवयुवकों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा । उसे देखकर आज भी हृदय कांपता है । 'फूल खिलने भी न पाया कि कली ही कुम्भला गई' की कहावत पूरी होती है । अंगरेजों से सम्बन्ध होने पर हमने मिल, स्पेंसर

और बर्क आदि लेखकों का साहित्य देखा तो आजादी के भावों को उत्तेजना मिली और विज्ञान की ओर हमारी रुचि बढ़ी परन्तु अंगरेजी साहित्य से हममें कुछ दोष भी आ गए—हमारा अपना भेष नहीं रहा अपनी भाषा न रही और विचार-स्वतन्त्रता न रही। अंगरेजों की देखा-देखी फैशन का भूत हमारे सिर पर सवार हो गया; और, कितने ही आदमी अपने-रहन सहन में नाममात्र को हिन्दुस्तानी रह गए। अब अंगरेज चले गए हैं; तो भी हम उनकी बातें या अंगरेजियत नहीं छोड़ पाए हैं।

**दूसरे राष्ट्रों के उत्थान-पतन में साहित्य का प्रभाव**—दूसरे देशों के उत्थान-पतन या चढाव-उतार में भी यहाँ के साहित्य का बड़ा हिस्सा रहा है। रूस, इटली, फ्रांस, जर्मनी, इंगलैंड आदि देशों के इतिहास पढ़िए; मालूम हो जायगा कि जितनी उन्नति इनके साहित्य में होती गई, उतना ही ये फलते-फूलते गए। एशिया में जापान के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही है। इसी प्रकार जब तक यूनान, मिश्र, फारिस आदि देशों के निवासी साहित्य के विषय में सावधान रहें, ये संसार में शिरोमणि बने रहे। जब से इनके साहित्य को धक्का लगा, उसमें मैल भरने लगा और उसकी तरक्की रुक गई, तब से इन देशों का कुछ मान ही न रहा। इनमें से कुछ का हाल में उद्धार हुआ है तो नए रूप में और नए साहित्य के बल पर।

दूसरे देशों में, आयर्लैंड की मिसाल बहुत विचार करने योग्य है। इंगलैंड ने वहाँ का साहित्य नष्ट कर अपने साहित्य का प्रचार किया, इससे वहां के निवासी अपनी संस्कृति गँवाकर इंगलैंड की नकल करने में अभिमान करने लगे थे। पराधीनता के समय में आयर्लैंड ने क्या-क्या कष्ट न सहे ! अन्त में कुछ दूरदर्शी नेताओं ने अपनी मातृभूमि के उद्धार का बीड़ा उठाया। उन्होंने इस कार्य में अपनी मातृभाषा 'गैलिक' तथा राष्ट्रीय साहित्य के प्रचार को प्रमुख स्थान दिया। घर-घर में इनका प्रकार किया गया। इससे वहाँ मातृभूमि के लिए बलिदान

होनेवालों का सिलसिला बंध गया। वीर मेक्खिनी ने ७६ दिन तक उपवास या अनशन करके अपने प्राण खुशी-खुशी देश के लिए न्योछावर दिए। उसने कहा था कि 'मैं उस साहित्य का पुजारी हूँ, जिसने मुझे सच्चे रास्ते पर चलना सिखाया है। मैं सांसारिक मनुष्यों से भय नहीं खाता।' राष्ट्रीय साहित्य के ऐसे ही पुजारियों ने आयर्लैंड को आजाद किया है।

**राष्ट्र-निर्माण में साहित्यसेवियों का स्थान**—जिस तरह किसी विशाल भवन को बनाने के लिए बहुत आदमियों की ज़रूरत होती है और कई तरह का सामान जुटाना पड़ता है, उसी तरह राष्ट्र-निर्माण में भी कई बातें जरूरी होती हैं, जैसे एकता, सहनशक्ति, वीरता, धैर्य, बुद्धि आदि। लेकिन मकान बनाने का सब सामान तब ही काम देता है, जब वह किसी चतुर मिस्त्री की देखरेख में ठीक जगह लगाया जाय। उसी प्रकार राष्ट्रीयता के साधन भी तभी लाभदायक होते हैं, जब कोई इनके इस्तेमाल की विधि बतानेवाला हो। यह काम चतुर साहित्यसेवियों और योग्य सम्पादकों का है, वे हमें अपनी पुस्तकों तथा लेखों से हमारा कर्त्तव्य तथा उसको पालन करने की विधि बतला सकते हैं। जिस तरह कोई चतुर वैद्य हीन-से-हीन रोगी को चंगा कर सकता है, वैसे ही चतुर साहित्यसेवी गिरे हुए राष्ट्र को उठा सकता है, देश में हलचल मचा सकता है, जनता की रुचि बदल सकता है। इस प्रकार राष्ट्र-निर्माण में साहित्यसेवियों का वही स्थान है, जो घातक बीमारी में चतुर वैद्य का, विशाल भवन-निर्माण में होशियार मिस्त्री का तथा राज्य-शासन में योग्य नीतिकारों का।

हमारे देश में सच्चे साहित्यसेवी कम हैं। बहुत से शिक्षक, अध्यापक और आचार्य टेक्स्ट बुकों (पाठ्य पुस्तकों) के चक्कर में पड़े रहते हैं, और अपने ज्ञान से पाठकों को स्वतन्त्रता-पूर्वक मानसिक भोजन नहीं देते। कितने ही लेखक या कवि अपनी लेखनी का उपयोग सिर्फ धन या प्रशंसा पाने में समझते हैं। जिस 'साहित्य' के अधिक-से-

अधिक ग्राहक मिलने की सम्भावना होती है, उसकी ही रचना के लिए ये तैयार रहते हैं, चाहे उससे समाज या राष्ट्र कितना ही रसातल को जाय। ये लोग अपनी खुदगर्जी से ऐसा काम करते हैं, जिससे नवयुवकों में निर्भीकता, साहस, कष्ठ-सहन के भावों का उदय न होकर उनमें विलासिता और बदचलनी बढ़ती है। हमारी साफ राय है कि साहित्य के नाम पर आजदिन जो पुस्तकें छप रही हैं, उनका खासा हिस्सा नष्ट कर दिए जाने योग्य होता है।

**साहित्य किस ढङ्ग का होना चाहिए?** - इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो पुस्तक लिखी जाय, उसमें देश-काल का विचार जरूर रखा जाय। भारत की हालत में पहले से बहुत फरक हो गया है; अब यहाँ पर एक ही जाति अथवा एक ही धर्म नहीं है। हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई और पारसी आदि हैं, इन सब को ध्यान में रख कर हमें भारतीय राष्ट्र बनाना है; किसी खास जाति या धर्मवालों का नहीं। यह तभी हो सकता है, जब हमारा साहित्य मेल बढ़ानेवाला तथा ऐसे विषयों से भरा हुआ हो, जो देश के लिए लाभदायक हों। हमारी पुस्तकें पाठकों को ऊँचे आदर्श पर लेजानेवाली हों, जिनसे राष्ट्र-धर्म, अर्थशास्त्र, विज्ञान तथा राजनीति की, और अच्छे व्यवहार की शिक्षा मिले, जो उन्हें उदार देशभक्ति के रंग में रंगे, जिनको पढ़कर वे नेकचलन बनें, त्याग के मर्म को जानें और दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना अपना धर्म समझें। सार बात यह है कि ग्रन्थ ऐसे होने चाहिएँ, जिनके पढ़ने से हम अपने देश की यथेष्ट उन्नति करते हुए अपनी राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में सफल हों।

**स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास**—राष्ट्रीय साहित्य में इतिहास का विषय विशेष विचारणीय होता है। भारतीय इतिहास की रचना में किन-किन बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए, यह पहले लिखा जा चुका है। यहां स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास के बारे में कुछ विशेष कहना है। इस विषय के जो ग्रन्थ अब तक लिखे

गए हैं, उनमें क्रान्तिकारियों की प्रायः कुछ चर्चा नहीं की गई, और जनता को आन्दोलन का यथेष्ट श्रेय नहीं दिया गया। यही नहीं, जैसा कि 'भारत में सशस्त्रक्रान्ति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास' तथा 'भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास' के सुप्रसिद्ध लेखक श्री० मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है, हम अपने कुछ समय पहले के सच्चे नेताओं को भी भूलते जा रहे हैं। हम केवल आजाद, भगतसिंह, रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकुल्ला को ही नहीं भूल रहे हैं, हम लोकमान्य तिलक; पंडित मोतीलाल नेहरू देशबन्धु दास आदि को भी भूलते जा रहे हैं।

स्वतंत्रता-संग्राम में नाना साहब, राममोहन, दयानन्द; खुदीराम, गोखले तिलक, गाँधी, जवाहरलाल, पटेल, अजमल खाँ, भगतसिंह, जयप्रकाश, अशफाकुल्ला सभी का हाथ था; किसी का कम, किसी का अधिक। और, इन सबसे अधिक भाग रहा जनता का, जिसने इन्हें पैदा किया तथा इनके विचारों को शक्ति बनादी। अब जो इतिहास लिखा जाय, उसमें इस बात का यथेष्ट ध्यान रखा जाना चाहिए। हमने अपनी 'भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन' पुस्तक में सन् १८५७ से १९४७ तक का संक्षिप्त इतिहास दिया है। इसमें सन् १८५७ का संग्राम, आतंक-मार्ग, काँग्रेस आन्दोलन, १९४२ की जन-क्रान्ति, आजाद हिन्द आन्दोलन और नौसैनिक संघर्ष सब पर प्रकाश डाला है। जो पाठक बड़ी-बड़ी पुस्तकें न पढ़ पावें, वे इससे संतोष कर सकते हैं।

# दूसरा खंड

## सातवाँ परिच्छेद

## जनसंख्या

**हमारी जनसंख्या और निर्धनता**—पाकिस्तान बनने पर भारत (भारतीय संघ) की आबादी (सन् १९४१ की गणना के अनुसार) बत्तीस करोड़ थी। विभाजन के बाद लाखों आदमी एक राज्य से दूसरे में गए, पर पाकिस्तान जानेवालों की अपेक्षा, वहाँ से आने वालों की संख्या बहुत अधिक रही। फिर जो आदमी पाकिस्तान गए थे, उनमें से कुछ लौट भी आए। इस प्रकार भारतीय संघ की आबादी कुल मिला कर कुछ बढ़ी ही। आगामी मनुष्य गणना अगले वर्ष होगी। इस समय (सन् १९५०) आबादी लगभग ३६ करोड़ होगी।

जनसंख्या या आबादी के विचार से भारतवर्ष एक महान राष्ट्र है। संसार भर में, केवल चीन छोड़कर कोई दूसरा देश ऐसा नहीं है, जिसकी जनसंख्या भारत से अधिक हो। यह ठीक है इंगलैंड आदि कुछ देशों की तुलना में क्षेत्रफल के विचार से यहाँ फी वर्गमील कम आदमी रहते हैं, पर वे देश धनवान हैं और उद्योग और कलाकौशल-प्रधान हैं। वे अपना तैयार माल अपने अधीन देशों या प्रभाव-क्षेत्रों में खपाकर खाने-पीने का सामान बहुत ऊँचे भाव से खरीद सकते हैं। यदि उनके यहां काफी पैदावार न हो तो भी उन्हें भूखे मरने की नौबत नहीं आती। इसके खिलाफ, भारतवर्ष आर्थिक पराधीनता में फँसा है। यहाँ बहुत से

आदमी इतने गरीब हैं कि वे अपने निर्वाह के लिए साधारण अवस्था में भी काफी अन्न नहीं खरीद पाते; फिर, जब वह बहुत मँहगा हो, तो कहना ही क्या।

**जनसंख्या की वृद्धि; स्वामी राम के विचार—** भारत में दूसरे कई देशों से मृत्यु-संख्या अधिक है, लेकिन जन्म-संख्या उससे भी अधिक होने के कारण यहाँ हर वर्ष, प्रति हजार ग्यारह आदमी बढ़ रहे हैं। यदि यही क्रम जारी रहा तो सन् २००१ ई० में भारतीय जनसंख्या छप्पन करोड़ हो जाने की आशा है। क्या यह वृद्धि चिन्तनीय नहीं है?

इसके बारे में श्री स्वामी रामतीर्थ जी के ये विचार कितने मनन करने योग्य हैं:—"हे भारतवासियो! इतना तो तुम लोकसंख्या की अधिकता से गरीब हो रहे हो और आशा करते हो कि प्रेम और सहानुभूति की वृद्धि हो। तुम्हारी यह आशा वृथा है। पदार्थ-विद्या का अभ्यास करनेवाले जानते हैं कि पदार्थों की आन्तरिक स्थिरता तब ही तक रह सकती है, जब तक उसके परमाणु एक दूसरे से इतनी दूरी पर रहें कि छोटे परमाणु को भी अपनी नियमित परिक्रमा करने में बाधा उपस्थित न हो। अब यह विचारना चाहिए कि भारत के राष्ट्र की क्या दशा है। क्या उसके व्यक्ति बिना एक-दूसरे से टकराए अपनी नियमित चाल के अनुसार चल सकते हैं? जब एक का पेट भरने के लिए दस को भूखे मरना पड़ता है तब तो राष्ट्रीय स्थिरता कायम रखने के लिए हमें शीघ्र ही कोई उपाय करना चाहिए। यदि हमने ऐसा नहीं किया तो प्रकृति अपने नियमानुसार हमारे साथ व्यवहार करेगी। ऐसी अवस्था के लिए (जैसी हमारी है), प्रकृति के नियम महर्षि वशिष्ठ ने बताए हैं कि मरी, दुष्काल, नाशकारक युद्ध और भूकम्प हैं। किसी समय आर्य उपनिवेशियों के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात थी कि उनके अधिक सन्तान हों, परन्तु अब वह समय गया और स्थिति बदल गई। लोकसंख्या की अधिकता का विचार करते हुए यह ज्ञात होता है कि आजकल बड़े

कुटुम्ब का होना एक प्रकार का दुर्भाग्य है। जो विचार-शून्य मनुष्य कहते हैं कि मरणान्तर स्वर्ग-प्राप्ति पुत्र होने पर अवलम्बित है, उनसे कहो कि जरा अपनी आँखें खोलकर देखें; अपने मरने के पहले ही संतान-वृद्धि के कारण तुमने अपने घर को अर्थात् वर्तमान भारत को साक्षात् नर्क बना रखा है।"

**विदेश-गमन और संयम**—दूसरे देशों की जनसंख्या जब जरूरत से ज्यादा बढ़ी तो उन्होंने अपनी पैदावार बढ़ाने और उद्योग-धन्धों की उन्नति करने के अलावा दूसरे देशों में जाने और उपनिवेश बसाने का कार्य किया। भारतवर्ष के भी कुछ आदमी आजीविका के लिए दूसरे देशों को जाते रहे हैं, परन्तु वे अपने देश में ही पराधीनता का जीवन व्यतीत करते थे, उन्हें बाहर क्यों सम्मान मिलता! हमारे प्रवासी भाइयों को जिन कष्टों का सामना करना पड़ा है, उन्हें सुन-कर बहुत से भारतीयों का विदेशवास करने में साहसहीन हो जाना स्वाभाविक है।

जनसंख्या को बेहद न बढ़ने देने का दूसरा उपाय संयम और इन्द्रियों को वश में रखना है। वे महाशय धन्य हैं; जो जन्म भर ब्रह्म-चारी रहें, देश को अपना परिवार समझें और उसी की सेवा में अपना तन, मन, धन लगावें। इसके अलावा हिन्दुओं के प्राचीन आदर्श के अनुसार आश्रम-धर्म के प्रचार की बड़ी जरूरत है। ब्रह्मचर्य आश्रम पूरा करने पर ही गृहस्थ बना जाय। बाल विवाह, वृद्ध विवाह और अनमेल विवाह न हों। सन्तान जहाँ तक हो सके, कम हो उचित आयु के बाद वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के धर्म का पालन किया जाय। इससे जनसंख्या मर्यादा के भीतर रहेगी और स्वास्थ्य सुधरेगा।

**संतान-निग्रह**—कुछ लोगों का कथन है कि संयम ब्रह्मचर्य आदि की बात बहुत अच्छी जरूर है, लेकिन यह केवल ऊँचे विचारवालों के वास्ते है, सर्वसाधारण के लिए यह अमल में लाने लायक नहीं है;

उन्हें नकली उपायों से सन्तान-निग्रह करना चाहिए। ये लोग जनता में इस प्रकार के विचारों का, अपने भाषणों तथा लेखों से, प्रचार कर रहे हैं। कुछ स्थानों में सन्तान-निग्रह की शिक्षा देने की भी व्यवस्था हो चली है। यह मत यहाँ थोड़े समय से ही जारी हुआ है, पर इस पक्ष-वालों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है; खासकर नवशिक्षितों की प्रवृत्ति इस ओर बढ़ी हुई है। लेकिन जन-समाज इन बातों को भयंकर आशंका और घृणा की नज़र से देखता है। वह भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति, नैतिकता और धार्मिकता के विचार से इसका विरोध करता है। यह भी मालूम हुआ है कि उन देशों में जहाँ ये उपाय विशेष रूप से काम में लाए गए हैं, समाज को बहुत क्षति उठानी पड़ी है; वहाँ कितने ही बड़े-बड़े नेता इसका घोर विरोध कर रहे हैं। मतलब यह कि जनसंख्या की अनुचित वृद्धि को रोकने के लिए संयम और ब्रह्मचर्य को ही काम में लाया जाना चाहिए।

**जनसंख्या मर्यादित रहनी चाहिए**—भारतवर्ष को स्वराज्य प्राप्त हो गया है, इससे जनता की आर्थिक हालत सुधर जायगी; क्या तब भी जनसंख्या को मर्यादा में रखने की जरूरत रहेगी? यह सोचना ठीक नहीं कि हम अपनी अंधाधुन्ध बढ़ाई हुई जनसंख्या का पालन करने के लिए दूसरे देशों को अपना गुलाम या प्रभाव-क्षेत्र बनाऊँगे; और दूसरी जातियों को इस प्रकार नुकसान पहुँचाएँगे, या उनका विनाश करेंगे, जैसा कि इस ज़माने के उन्नत राष्ट्रों ने किया है, और कर रहे हैं। नए-नए आविष्कारों द्वारा देश की पैदावार बढ़ाने की कोशिश करते रहना उचित ही है, परन्तु अपना राष्ट्र-परिवार इतना बढ़ा लेना कि अन्त में उसकी रक्षा या पालन-पोषण के लिए दूसरों को कष्ट देना या नष्ट करना पड़े, बहुत बुरा है।

जनसंख्या सम्बन्धी विविध प्रश्नों पर हमने अपने 'भारतीय अर्थशास्त्र' में खुलासा विचार किया है। यहाँ हम जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के

उपायों का ही उल्लेख करते हैं।

**प्रतिबन्धक उपाय—** जनसंख्या की अनुचित वृद्धि को रोकने के लिए ये उपाय काम में लाए जाने चाहिएँ :—

(१) जनता में यह प्रचार किया जाय कि रहनसहन का दर्जा ऊँचा करें। आदमी अच्छे मकान तथा उत्तम भोजन-वस्त्र का उपयोग करें। रहनसहन का दर्जा ऊँचा रखनेवालों में सन्तान की इच्छा कम होती है।

(२) बालक-बालिकाओं की ऊँची-शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय, जिससे बड़े होने पर वे अपने उत्तरदायित्व को पहिचानें, दूरदर्शी बनें। आदमी, सन्तान पैदा करने की इच्छा होने पर आगे पीछे की परिस्थति का विचार करके उसका यथा-सम्भव नियन्त्रण करें। और कई अयोग्य सन्तान की अपेक्षा एक-एक दो-दो सुयोग्य सन्तान पैदा करने का ही विचार रखें।

(३) बालक-बलिकाओं को सदाचार और संयम की शिक्षा दी जाय, तथा विवाह करने की उम्र बढ़ाई जाय; और बहुत ज्यादह उम्रवालों के विवाह (कुज खास हालतों को छोड़कर) बन्द किए जायँ। इस सम्बन्ध में हिन्दुओं की आश्रम व्यवस्था का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

(४) निर्बल, वंशानुगत रोगी, पागल, या ऐसे शारीरिक या मानसिक विकारवाले आदमियों के विवाह बन्द होने चाहिएँ, जिनकी सन्तान स्वस्थ और सुयोग्य होने की सम्भावना न हो।

(५) विदेशों के उन्हीं आदमियों को तथा उसी दशा में, आकर बसने की अनुमति दी जानी चाहिए, जब वे यहाँ का धन बढ़ाने में सहायक हों, अथवा ऊँचे नैतिक विचारों का प्रचार करनेवाले हों।

(६) देश की विशेषतया आर्थिक स्थिति का सुधार किया जाय।

इन उपायों से भारतवर्ष की जन-संख्या बढ़ने की समस्या बहुत कुछ हल होने की आशा की जा सकती है।

**समाज का हर एक अंग उपयोगी हो**—इस बात की भी बड़ी आवश्यकता है कि भारतवासी मातृभूमि के योग्य नागरिक बनें। ऐसी कोशिश होनी चाहिए कि समाज का प्रत्येक अंग राष्ट्र के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी हो। जिस प्रकार घर के कार्य में छोटा-बड़ा स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार योग दे सकते हैं, उसी तरह राष्ट्र में भी हर व्यक्ति तथा व्यक्ति-समूह को अपना कर्त्तव्य भली-भाँति पालन करना चाहिए। जैसा कि हमने 'भारतीय जागृति' में कहा है, हरेक विचारशील आदमी को यह बात अजीब और दुखदायी मालूम होगी कि जनसंख्या के इतनी बड़ी होते हुए भी भारतवर्ष संसार में बहुत गया-बीता है। बात यह है कि भारतीय जनता की विविध कड़ियों में से कई-एक बहुत कमजोर हैं :—

(१) अब से कुछ वर्ष पहले तक महिलाएँ सार्वजनिक जीवन से दूर ही नहीं रही, वे बहुत-कुछ पुरुषों पर भार या उनके कार्य में बाधक थीं।

(२) अछूतों (हरीजनों) की समस्या पर हाल में ही विचार होने लगा है।

(३) भिखारियों (४) जरायम-पेशा (अपराधी) मानेवाले लोगों, (५) आदिवासी कहे जानेवाले बनवासियों तथा (६) वेश्याओं के विषय पर अभी तक भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

राष्ट्र के इन सब अंगों की उन्नति और सुधार होना चाहिए। तभी देश को उसकी जनसंख्या के अनुपात से यथेष्ठ लाभ होगा।

# आठवाँ परिच्छेद
## स्वास्थ्य-रक्षा

---

*"व्यक्ति का तथा राष्ट्र का सब से पहला धन स्वास्थ्य है।"*

**भारतवासियों का स्वास्थ्य**—भारतवर्ष स्वतन्त्र देश है पर यहाँ के निवासियों के दुर्बल, रोगी और तेज-हीन शरीर देखने से साधारणतया यह कल्पना नहीं होती कि ये किसी स्वतन्त्र राष्ट्र के व्यक्ति हैं। बात यह है कि चिरकाल तक यह देश ब्रिटिश सरकार के अधीन रहा, उसने जनता के स्वास्थ्य की उपेक्षा ही की, और यदि कभी ध्यान भी दिया और कुछ योजनाएँ बनीं तो उन्हें अमल में लाने के लिए उसे धनाभाव रहा। सामूहिक स्वास्थ्य का विषय ग्राम-क्षेत्रों में जिला-बोर्डों के, और नगरों तथा कस्बों में म्युनिसपेलटियों के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत था। इन संस्थाओं की आय के साधन बहुत परिमित थे। इसका फल यह हुआ कि स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य बहुत ही कम किए गए। भारतवासी निर्बल, रोगी और अल्पायु हो गए। यहाँ तरह-तरह के रोगों की भरमार रही, और उनके निवारण का समुचित उद्योग नहीं किया गया। जब कि संसार के अन्य कई देशों में हर साल हजार पीछे केवल दस-ग्यारह आदमी मरते हैं, यहाँ उनकी संख्या लगभग तीस है। आदमी मौत को तथा रोग को भाग्य की बात समझते हैं।

**राष्ट्र की भयंकर क्षति**—शान्ति हो या युद्ध, तन्दुरुस्त आदमी ही राष्ट्र की शक्ति है। आदमी के बीमार पड़ने से उसके द्वारा किए जानेवाले काम में तो बाधा होती ही है, उसकी सेवा-सुश्रूषा करनेवालों

के भी काम में हर्ज होता है। इस प्रकार राष्ट्र-रूपी परिवार कितनी सेवा से वंचित रहता है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। फिर अस्वस्थ आदमियों की संतान निर्बल और रोगी होती है। भारतवर्ष में बाल्यवस्था में मरनेवालों की संख्या बहुत अधिक है, और यहाँ लोगों की औसत उम्र बहुत कम है। जबकि संसार के कितने ही देशों में आदमियों की औसत उम्र पचास-साठ वर्ष तथा इस से भी अधिक है, भारतवर्ष में यह सिर्फ तेईस वर्ष ही है।

लोगों की उम्र कम होने से राष्ट्र की कितनी हानि होती है, यह उपर्युक्त अन्तर से सहज ही ध्यान में नहीं आता। कल्पना करो कि एक आदमी पच्चीस वर्ष तक जीया और दूसरा चालीस वर्ष तक। अब दोनों की उम्र के प्रथम बीस वर्ष शिक्षा और काम सीखने आदि के निकाल दिए जायँ तो पहले को काम करने के लिए केवल पांच वर्ष मिले, और दूसरे को बीस वर्ष अर्थात् पहले आदमी की अपेक्षा चौगना समय मिला। इसके अलावा इस आदमी को काम करने जो अधिक समय मिला, उसमें यह अपने अनुभव का भी अधिक उपयोग कर सका। इस प्रकार राष्ट्र के लिए दीर्घजीवी और स्वस्थ आदमियों की कितनी उपयोगिता है!

**आर्थिक उन्नति की आवश्यकता**—अस्तु राष्ट्र के शुभ-चिन्तकों को जनता के स्वास्थ्य की ओर काफी ध्यान देना चाहिए। भारतवसियों के लिए यह धर्म के ही अन्दर एक जरूरी विषय है, और वे शुद्ध और अनुकूल भोजन-वस्त्र, स्वच्छ वायु तथा व्यायाम का महत्व भली भाँति जानते हैं। तिस पर भी उन्हें जैसा-चाहिए, सुख नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि कुछ लोग तो शौकीनी या फैशन के कारण, परन्तु बहुत से अपनी दरिद्रता के वश, उस जानकारी का उपयोग नहीं कर सकते। जिन अभागे भारतवासियों को दो वक्त पेट-भर रोटी ही नहीं मिलती, उन बेचारों को यह जान लेने से कुछ खास लाभ नहीं होता कि स्वास्थ्य के लिए फलों का सेवन करना, और

खुली हवा के बंगलों में रहना चाहिए। भारतीय जनता के स्वास्थ्य का प्रश्न बहुत-कुछ आर्थिक है। अतः स्वास्थ्य-सुधार के लिए लोगों की आर्थिक दशा सुधारने की सख्त ज़रूरत है।

**विविध समूहों के स्वास्थ्य का विचार**—स्वास्थ्य सम्बन्धी कुछ बातें तो सभी आदमियों के लिए समान रूप से उपयोगी हैं। तथापि विविध समूहों विद्यार्थियों, स्त्रियों, मजदूरों आदि के लिए उनकी विशेष परिस्थिति का ध्यान रखते हुए भी विचार किया जाना चाहिए। मिसाल के तौर पर विद्यार्थियों की बात लीजिए। वर्तमान दशा में जनता के दिल में यह विश्वास जम गया है कि पढ़नेवाले आदमी रोगों के प्यारे बन जाते हैं। वे महाशय बड़े सौभाग्यशाली समझे जाते हैं, जो विद्वान् होकर भी बलवान और स्वस्थ बने रहें। नहीं तो, चश्माधारी बनना अब फैशन में शामिल हो गया है। अनेक नौजवान विद्यार्थी डाक्टरों और वैद्यों के 'शुभचिन्तक मित्र' बने रहते हैं। यह हालत बड़ी शोचनीय है। इसके मुख्य कारण ये हैं—उचित भोजन न मिलना, खासकर परीक्षा के दिनों में मानसिक परिश्रम या दिमागी मेहनत बहुत ज्यादा करना, कसरत या व्यायाम में मन न लगना सत्संगति और नैतिक शिक्षा की कमी, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करना, छोटी उम्र की विवाह-शादियाँ और गृहस्थी की चिन्ता का भार आदि। इन्हें दूर करने के लिए पिछले सालों में कुछ कोशिश हुई है; लेकिन और भी बहुत काम होने की आवश्यकता है।

इसी प्रकार दूसरे स्त्री-पुरुषों के स्वास्थ का विचार हो सकता है। हमे चाहिए कि इस विषय में अपना फर्ज पूरा करके राष्ट्र का बल बढ़ावें।

**सरकार और जनता का कार्य**—अपनी पिछली पराधीनता के कारण भारतीय जनता को जो बिगड़े हुए स्वास्थ्य की विरासत मिली है, उसमें एक दम यथेष्ट सुधार नहीं हो सकता, तथापि निरंतर ध्यान दिया जाने से सफलता की आशा है। जैसा कि भारत-सरकार की स्वास्थ्य

मंत्राणी राजकुमारी अमृतकौर ने कहा है, हमें स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक कार्य करने हैं

कारखानों के मजदूरों के लिए स्वास्थ्य-सर्विस का संगठन, सारे देश में पौष्टिक भोजन के स्तर को उन्नत करना, राज्यक्ष्मा, कुष्ट, भारत में तथा भारत से बाहर डाक्टरी सहायता, शरणार्थियों के लिए स्वास्थ्य-सर्विस और उनके बीच स्वास्थ्य-कार्यकर्ताओं का नियोजन, औषधियों का उत्पादन, विटामिन्स, शल्य चिकित्सा के औजार तथा अन्य डाक्टरी सामग्री का प्रबन्ध और उनका सरकारी एवं अन्य संस्थाओं में वितरण, एक अखिल भारतीय डाक्टरी रजिस्टर, अंधापन, भारत में जीवन और मृत्यु के आँकड़ों को सुधारने का प्रश्न, आदमियों के कुप्रबन्ध के कारण होने वाले मलेरिया की रोक-थाम, औद्योगिक तथा गन्दी बस्तियों के प्रदेशों में नए मकानों तथा क्वार्टरों का निर्माण आदि।

आशा है, भारत सरकार और प्रादेशिक सरकारें मिलकर इस दिशा में प्रयत्न करेंगी, और म्युनिसपेलटियाँ और पंचायतें आदि स्थानीय संस्थाओं का यथेष्ट सहयोग प्राप्त करेंगी। सरकार और जनता दोनों के सम्मिलित आन्दोलन पर ही सफलता निर्भर है।

---

## नवाँ परिच्छेद

# सदाचार

*"यदि धन गया तो कुछ नहीं गया, यदि स्वास्थ्य गया तो कुछ गया, यदि सदाचार गया तो सब-कुछ गया।"*

*—एक अंगरेजी कहावत*

**सदाचार का महत्व**—सदाचार में विविध नैतिक गुण शामिल होते हैं, जैसे सच बोलना, संयम, उदारता और ईमानदारी आदि।

जो आदमी सदाचारी नहीं होता, वह अक्सर अपनी योग्यता का दुरुपयोग ही करता है। वह अपनी विद्या को विवाद का, धन को अहंकार का, शारीरिक बल को दूसरों के सताने का साधन बना सकता है, जबकि सदाचारी आदमी इन गुणों से ज्ञान, दान और रक्षा का काम लेकर देश और जाति की सुख-शान्ति बढ़ाता है। सदाचार ही मनुष्यों या समाजों को उन्नति और सम्मान के उच्च शिखर पर पहुँचाता है।

**राष्ट्रों का उत्थान और पतन**—इतिहास इस बात का गवाह है कि जब राज्य की बागडोर आचारहीन या दुराचारी आदमियों के हाथ में आ जाती है तो राष्ट्र का पतन आरम्भ हो जाता है। भारत को जर्जर और वैभवहीन कर डालनेवाला महाभारत क्यों हुआ? दुर्योधन या दुश्शासन जैसे चरित्रहीन आदमियों के सत्ताधारी हो जाने से! मुसलमानों के सामने हिन्दुओं की अन्त में पराजय क्यों हुई? एक ओर तो वीर पृथ्वीराज ने ऐश्वर्य और भोग-विलास में पड़कर अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्य की ओर काफी ध्यान न दिया, दूसरी ओर उनके ससुर जयचन्द की ईर्ष्या ऐसी प्रचण्ड हो गई कि उसने अपने देश-प्रेम को भी भस्म कर डाला। छल, कपट, देशद्रोह और विलासिता का परिणाम और क्या होना था! भारतवर्ष में हिन्दू सम्राट के शासन की इतिश्री हो गई। इसके खिलाफ, हिन्दू जाति में राणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह आदि का नाम लोगों में जीवन संचार करनेवाला कैसे हुआ? उनके अपार कष्ट-सहन और कठोर व्रतों के पालन के कारण

अच्छा, यहाँ मुसलमानों के राज्य का अन्त क्यों हुआ? ऐयाशी और विलासिता के कारण। आखिरी मुगल शासकों ने अपने पूर्वजों के घोर परिश्रम का फल शराब की बोतलों में नष्ट कर डाला। इनकी देखादेखी इनके सहायक और अधीन पदाधिकारी भी कायर और आरामतलब हो गए। स्वतन्त्रता देवी यह अपमान कब तक सहन

करतो! उसने धीरे-धीरे सारे भारत से बिदा ली कष्ट सहनेवाले स्वदेशभक्त अंगरेजों की बन आई; जो आदमो यहाँ व्यापार के लिए आये थे, वे अवसर पाकर देश पर कब्जा कर सके।

अस्तु, इस सिलसिले में थोड़ा सा यह भी विचार करलें कि भारत से अंगरेज बहादुरों की हुकूमत क्यों हटी। महारानी विक्टोरिया को घोषणा को 'राजनीतिक छल' समझने और उसे रद्दी कागज का टुकड़ा बना डालने से, अनेक लोभी-लालची कर्मचारियों के अनुचित व्यवहार से, महायुद्ध के समय प्रजा को बड़े-बड़े बचन देने और मतलब निकल जाने पर उनका पालन न करने से, अनेक स्थानों में स्त्रियों, बालकों और बूढ़ों पर भी घोर अत्याचार करने से, मार्शल-ला (अशांति-दमन कानून) और आर्डिनेन्स (अध्यादेश)-राज तथा तानाशाही शासन से।

**भ्रष्टाचार और आर्थिक संकट**—अच्छा, यहाँ आर्थिक संकट क्यों है? उसके कुछ कारण तो विश्वव्यापी हैं। पर बहुत-कुछ संकट स्वयं यहाँ वालों में सदाचार के अभाव के कारण है। रेल, पुलिस अदालत आदि विविध विभागों के सरकारी कर्मचारी अपने वेतन और भत्तों से संतुष्ट न हो हरदम रिश्वतखोरी के लिए लालायित रहते हैं। मामूली आदमी को अनाज या कपड़े आदि के कंट्रोल के दफ्तर में जब कोई काम होता है तो अफसर उसका पैसा लूटने के लिए तैयार रहते हैं। भ्रष्टाचार की अधिकता से सरकार काफी बदनाम है। कर्मचारियों को 'ऊपर की आमदनी' से अपनी जेब भरने की फिक्र रहती है।

**नागरिकों का दुर्व्यवहार**—जैसा राजा, वैसी प्रजा। सरकारी कर्मचारियों का यह पतन है, तो नागरिकों का भी नैतिक स्तर बहुत गिरा हुआ है। कपड़े का दुकानदार पांच रुपए की साड़ी के, चोर-बाजार में चौदह-पन्द्रह रुपए तक लेने में भी जरा नहीं शर्माता। आदमी अपनी बहू-बेटियों की लज्जा का निवारण करने के लिए उसके

मुंह-माँगे दाम देने को मजबूर होते हैं और दुकानदार इस मजबूरी का अधिक-से-अधिक लाभ उठाता है। अनाज, चावल चीनी आदि में मुनाफेखोरी कितनी अधिक है, यह सब भुक्तभोगी जानते हैं! कितने ही मुनाफेखोर पूंजीपति मंत्रियों आदि का स्वागत करके तथा राष्ट्रीय कार्यों में चंदा देकर सरकार की आँखों में धूल डालते रहते हैं। इनसे सावधान रहने की बहुत जरूरत है।

हम में राष्ट्रीय चरित्र की कितनी कमी है! प्रायः हम किसी को दिए हुए वचन को पूरा करना या किसी से मांग कर लाई हुई चीज समय पर लौटाना नहीं जानते। अनेक सार्वजनिक पुस्तकालयों में हमारे विद्यार्थियों तथा शिक्षितों की चरित्रहीनता के जीते-जागते सबूत हैं। कितनी ही पुस्तकों और पत्रिकाओं के कई-कई पृष्ठ फटे हुए हैं, कुछ में से चित्र या नक्शे गायब हैं। साल दो साल में जब सारे पुस्तकालय का स्टाक संभाला जाता है, तो गुमी हुई पुस्तकों आदि की सूची काफी लम्बी हो जाती है। यह सब इसलिए कि कुछ पाठक अपने स्वार्थ के लिए सार्वजनिक संस्था को हानि पहुँचाना और अपने अनेक भाइयों का अहित करना बुरा नहीं समझते।

**हिन्सा और विध्वंस कार्य**—इधर कुछ समय से एक और संकट सामने आ रहा है। रेल की पटरियाँ उखाड़ी जाती है, तार और टेलीफोन के खम्बे या तार तोड़े जाते हैं, ट्राम जलाई जाती है, बम-विस्फोट किया जाता है, कभी-कभी तो दिन-दहाड़े ही लोगों को डरा-धमका कर डाके डाले जाते हैं। निदान, जनता में आतंक फैलाने के विविध उपाय काम में लाए जाते हैं। बहुधा ये बातें 'कम्यूनिज्म' या साम्यवाद के नाम पर की जाती हैं। लोकहित को लक्ष्य में रखनेवाले विविध वादों का हम स्वागत करते हैं, और करना ही चाहिए। पर यह कैसा वाद है, जो हिन्सा और विध्वन्स के कारनामे प्रस्तुत करता है, जब कि हमें देश की उन्नति के लिए अपनी सारी शक्ति निर्माण-कार्य में लगाने की आवश्यकता है। हो सकता है, उपर्युक्त बातें असंतुष्ट और

दुखी व्यक्तियों द्वारा की जाती हों। पर ये किसी भी प्रकार क्षम्य नहीं। हां, इन्हें रोकने के लिए केवल सरकारी दमन सफल नहीं हो सकता; सरकार को जनता की आर्थिक स्थिति सुधारने का बीड़ा उठाना चाहिए।

**विशेष वक्तव्य**—अब हम स्वतन्त्र भारत के नागरिक हैं; और भारतवर्ष राष्ट्रीय समस्याओं के हल करने में लगा है। हमें तरह-तरह का निर्माण कार्य करना है। इसलिए भारतीय समाज में सदाचार की खास जरूरत है। हम ऐसी हिम्मत वाले हों कि मौत से भी न डरें; ऐसे धर्मात्मा हों कि ऊँचे सिद्धान्तों के पालन करने के सामने किसी भी दूसरी बात को महत्व न दें; ऐसे संयमी हों कि दुनिया के भोग विलास हमारा पतन न कर सकें; ऐसे निर्लोभी हों कि कोई हमें किसी भी कीमत से न खरीद सकें। हमारा भोजन सात्विक हो, रहन-सहन साधारण हो, हमारे विचारों में पवित्रता हो। ईर्ष्या-द्वेष, और फूट से हम अपने समाज को खंड-खंड न करके दया, मेल और परोपकार से उसे बढ़ानेवाले हों। फिर, हम अपनी राष्ट्रीय समस्याओं को सहज ही अच्छी तरह हल कर सकेंगे।

—:-:—

## दसवां परिच्छेद

# संगठन और जाति-भेद

—:-:—

*जिनको हम पैरों तले गिरा कर अपमानित करते हैं, वे ही हमारे रास्ते में हमारे सामने बाधा रूप में खड़े हो जाते हैं; वे भारी होकर हमको नीचे की ओर खींचते हैं। —रवीन्द्रनाथ ठाकुर*

**संगठन का आधार; जाति नहीं, श्रम**- जिस राष्ट्रीय संगठन का हम सपना देखते हैं; नहीं-नहीं, जिसकी लहर कट्टरपन्थियों

का विरोध होते हुए भी, बड़े वेग से आ रही है, उसमें किसी के अधिकार सिर्फ जन्म या खानदान के कारण न माने जाएँगे। उसमें जाति या सम्प्रदाय आदि का भेद-भाव न होगा, ऊँच-नीच की भावना न होगी, अस्पृश्यता या अछूतपन जैसी सामाजिक कलंक की बात न रहेगी। मौजूदा हालत में बहुत-से आदमी सभा-समितियाँ संगठित करके उनके द्वारा अपनी-अपनी जाति या सम्प्रदाय की उन्नति की कोशिश करते हैं; वे उसके लिए विशेष राजनीतिक अधिकारों या सुविधाओं की माँग करते हैं। परन्तु इसमें कोई सार नहीं है। किसानों, मजदूरों तथा बेकारों के स्वार्थ समान हैं, वे लोग किसी भी जाति या सम्प्रदाय के हों। एक प्रान्त के किसी भाग में सिचाई का इन्तजाम ठीक नहीं है, या लगान की दर बहुत ऊँची है, तो उससे वहां के सभी किसानों की हानि होगी; चाहे वे किसान जाट हों या गूजर, हिन्दू हों या मुसलमान। यदि किसी जगह कारखाना-कानून (फैक्टरी एक्ट) ठीक नहीं है तो उससे सभी मजदूरों के हित में बाधा होगी; यह नहीं होगा कि केवल किसी खास जाति या सम्प्रदाय के मजदूरों को हानि हो। जाहिर है कि लोगों के संगठन का आधार जाति या सम्प्रदाय न होकर, पेशा और स्थान होना चाहिए।

राष्ट्र में श्रम या मेहनत का उचित आदर होना चाहिए, वह श्रम शारीरिक हो या मानसिक। जो आदमी राष्ट्र के लिए जितनी अधिक कड़ी मेहनत करता है, उसे उतनी ही अधिक आमदनी होनी चाहिए; अगर वह स्वयंसेवक है तो उसे उतना ही अधिक आदर मान मिलना चाहिए। इसी तरह जो आदमी या समूह, समाज के लिए, कुछ उपयोगी कार्य नहीं करते, उन्हें समाज की ओर से धन या आदर पाने का कोई अधिकार नहीं है। देश के किसी आदमी को दूसरों पर भार न होना चाहिए, सब को स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करना चाहिए।

सङ्गठन का आधार श्रम मानने और श्रमजीवियों को ही समाज में सुख और आदर-मान देने की बात उन जमींदारों, महन्तों, पूँजीपतियों

और कारखानेवालों को बहुत अखरेगी, जो बिना खास मेहनत किए ही दूसरों के श्रम के सहारे खूब सुख या विलासिता भोगते रहते हैं, उन्हें समाजवाद की भावना में अपनी साफ हानि दीखती है; यही नहीं, अपने विनाश की आशंका होती है। इसलिए वे इसका भरसक विरोध करते हैं, और उनके विरोध को देखकर साधारण मनुष्य यह कहने लगते हैं कि समाजवाद की बात उठाकर श्रेणी-युद्ध की भावना क्यों जगाई जाय, इससे राष्ट्र के सङ्गठन में भयंकर बाधा खड़ी होती है। इस सम्बन्ध में याद रहे कि राष्ट्र का असली और स्थायी सङ्गठन उस समय तक नहीं हो सकता, जब तक कि एक श्रेणी दूसरी से अनुचित लाभ उठाएगी, और उसका शोषण करती रहेगी। बलवानों और निर्बलों का एक संगठन नहीं हो सकता। अच्छे संगठन के लिए समता चाहिए; सब श्रेणी-भेदों का अन्त होकर सब आदमियों को अपनी उन्नति और विकास का समान अवसर मिलना चाहिए, किसी को दूसरों पर जबरदस्ती करने का अधिकार न होना चाहिए।

**जाति-भेद और अस्पृश्यता**—राष्ट्रीयता चाहती है कि समाज में हर आदमी को उसके गुण कर्मों के अनुसार स्थान मिले; केवल किसी जाति विशेष में जन्म लेने के आधार पर किसी आदमी या समूह को ऊँचा नहीं माना जाना चाहिए। इस समय यहाँ अनेक आदमी अशिक्षित, गन्दे और परावलम्बी रहते हुए भी जाति विशेष में जन्म लेने के कारण ऊँचे दर्जे के माने जाते हैं। इसके खिलाफ, जो लोग रात-दिन मेहनत करके अपना निर्वाह करते हैं, तथा 'उच्च' कहे जानेवालों को सुख भोगने में मदद करते हैं, वे 'नीच' और कुछ दशाओं में अस्पृश्य या अछूत समझे जाते हैं। उन्हें असमर्थ, निर्बल तथा असहाय रहने दिया जाता है।

किसी जंजीर की मजबूती की परीक्षा उसकी सबसे कमजोर कड़ी से हुआ करती है। जहाँ तक उस कड़ी की ताकत होती है, वहीं तक कुल जंजीर की सामर्थ्य समझी जायगी। राष्ट्र-सङ्गठन में किसी खास अंग की

ओर उदासीनता रखते हुए कभी सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए, कमजोरों पर दया करने के विचार से न सही, स्वार्थ-बुद्धि से भी हमें अछूतों या हरिजनों के सवाल को हल करना चाहिए। खुशी की बात है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में इस विषय की ओर अधिक ध्यान दिया गया, और जहाँ तक कानून का सम्बन्ध है, उनकी सामाजिक असुविधाएँ दूर कर दी गई हैं। नये संविधान के अनुसार अस्पृश्यता का प्रचलन किसी भी रूपमें वर्जित है; कोई व्यक्ति दूसरे को अस्पृश्य मान कर व्यवहार नहीं कर सकता।

देश-प्रेमियों से नम्र निवेदन है कि दलित भाइयों के उद्धार में भरसक हिस्सा लें। वे मैले हैं तो उन्हें सफाई की शिक्षा दें; यदि वे बे-पढ़े हैं तो उन्हें ज्ञान दें; यदि वे भूखे हैं तो उनकी आजीविका का इन्तजाम करें। यह हमारा ही तो दोष है कि वे हिन्दू और हिन्दुस्तानी कहलाते हुए भी गिरी हालत में रहे। उनका उत्थान होना आवश्यक है। प्यारे भाइयो! सुधार की बात सुनकर बिगड़ बैठना ठीक नहीं; जरा शान्ति और गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है। यह बहुत अनुचित है कि हम अपने इन पांच-छः करोड़ भाइयों की उपेक्षा करें। हम देखते हैं कि हबशियों में से कितने ही योग्य नेता और पथ-प्रदर्शक या रहनुमा निकल आए; क्या इतने 'शूद्रों' में से कुछ नर-रत्न न निकल आएँगे? जरूर निकलेंगे, लेकिन उन्हें अपनी शक्ति और गुणों के विकास करने का अवसर भी तो मिले।

**संस्थाओं का कार्यक्रम**—भारत की अधिकतर जनता किसानों और कृषि-श्रमजीवियों या खेत-मजदूरों की है। ये लोग गाँवों में रहते हैं, और, गाँवों में अब नई पंचायतों का संगठन हो रहा है। इसलिए किसानों और मजदूरों को यथा-सम्भव अपना अलग संगठन न कर पंचायतों को अच्छी, शक्तिशाली और क्रियावान बनाने में लगना चाहिए। अन्य समूहों को आवश्यकतानुसार अपना संगठन करना उचित है। जैसा पहले कहा गया है, प्रत्येक संगठन का आधार जन्म, जाति या

सम्प्रदाय न होकर स्थान या पेशा होना चाहिए। आगे हम दो-एक प्रकार के संगठनों की विशेष चर्चा करते हैं, उससे यह साफ हो जायगा कि देश की दूसरी सभा-समितियों को अपना कार्य-क्रम कैसा रखना चाहिए और उनके वास्ते कैसी-कैसी बातों का विचार रखना जरूरी है।

**महिलाओं का संगठन**—स्त्रियों की उन्नति के लिए उनका सङ्गठित होना जरूरी है। महिलाओं की समस्याएँ सभी जातियों में करीब-करीब एकसी हैं, और उन्हें हल करने के लिए सब को मिलकर कोशिश करनी चाहिए। लड़कियों को अच्छी गृहिणी (घर वाली) बनने की बड़ी जरूरत है। उनकी पढ़ाई में उन विषयों की व्यवहारिक शिक्षा भी शामिल रहनी चाहिए, जिनसे उन्हें दिन-रात काम पड़नेवाले हैं, यथा गृह-प्रबन्ध, आरोग्यता, रोगियों की सेवा, चिकित्सा, पाकशास्त्र (रसोई), धातृ-विद्या या धाय का काम, पढ़ाना, और सन्तान का पालन पोषण आदि। ऐसी शिक्षा का इन्तजाम हो जाने से, यह लाभ भी होगा कि अनाथ या असहाय हो जाने की दशा में, स्त्रियां दूसरों के आश्रित न रहकर खुद अपना निर्वाह करने योग्य होंगी। इसके अलावा जिन महिलाओं के मन में लोक-सेवा के भाव जागृत हो गए हैं, वे अपनी उस अभिलाषा को पूर्ण कर सकेंगी।*

अन्य देशों के साहित्य में वहाँ की महिलाओं का बड़ा हिस्सा है। कोशिश करने पर भारतीय स्त्रियाँ भी अपनी विदेशी बहिनों की सी योग्यता प्राप्त कर सकती हैं। उनमें स्वभाव से ही मनुष्यों की मानसिक स्थिति तथा रुचि पहिचानने की शक्ति है, और वे अनेक नीरस विषयों को मीठा और सरस बना सकती हैं। एक साहित्य ही क्या, स्त्रियाँ कई

* माता कस्तूर बा की याद में एक बड़ा कोष कायम किया गया है। इस कोष से स्थान-स्थान पर स्त्रियों की शिक्षा और उन्नति का इन्तजाम किया जा रहा है।

तरह से देश-सेवा कर सकती हैं। ऐसे कार्य तो खासकर स्त्री-समाज के ही करने योग्य मालूम होते हैं, जिनमें कोमलता, मधुरता आदि गुणों की जरूरत हो; मिसाल के तौर पर बीमारों की सेवा-सुश्रूषा करना, दुखियों को दिलासा देना आदि। स्त्रियों के सङ्गठन का उद्देश्य उनमें इन गुणों को बढ़ाना, होना चाहिए।

**नवयुवकों का संगठन**—इसी प्रकार नवयुवकों का संगठन भी जातिगत या साम्प्रदायिक न होकर कुछ विशेष गुणों की वृद्धि के लिए, और राष्ट्रीयता के आधार पर, होना चाहिए। मिस्र, टर्की और जापान आदि देशों ने पिछले वर्षों में जो उन्नति की है, वह बहुत-कुछ उनके नवयुवकों द्वारा हुई है। भारतवर्ष को भी स्थायी उन्नति होने की आशा तभी पूरी होगी, जब उसे जारी रखने के लिए देश के भावी नेता अर्थात् नवयुवक तैयार हों। देश-सेवा का कार्य ऐसा व्यापक है कि हर आदमी या हर समूह को उसमें अपनी रुचि या सामर्थ्य के अनुसार कुछ-न-कुछ हिस्सा लेने का अवसर मिल सकता है। युवकों को चाहिए कि बालचर (स्काउट्स) या सेवासमितियों के सदस्य बनकर सेवा-कार्य की शिक्षा प्राप्त करें, और ऊँचा उद्देश्य रखें।

**विशेष वक्तव्य**—इसी तरह दूसरे समूहों को भारतीय राष्ट्र की सेवा करने के लिए ही अपना-अपना संगठन करना चाहिए। प्रत्येक संगठन के नियम अच्छी तरह बने हों; वे हर जाति या सम्प्रदाय के लिए समान हों। जिन सभा-संस्थाओं का काम भाषणों या लेखों द्वारा जातिगत या साम्प्रदायिक ओछे विचारों का प्रचार करना तथा आपसी कलह बढ़ाना होता है, वे संगठन नहीं, संगठन के नाम पर कलंक है। संगठन वही है जो सत्य और न्याय के आधार पर हो, जिसका मूल मंत्र प्रेम और सेवा हो, जो हमें अपने दूसरे भाइयों की सेवा और सहायता के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी बनाए।

---

## ग्यारहवाँ परिच्छेद
# साम्प्रदायिकता

---

*मज़हब नहीं सिखाता, आपस में बैर रखना।*
*हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दोस्तां हमारा ॥*

—'इकबाल'

*साम्प्रदायिक भेद की खाई को पार करने का सिर्फ एक ही रास्ता है, और वह वही जो कबीर, नानक, दादू, तुकाराम, चैतन्य, शाह कलन्दर, चिश्ती, बाबा फरीद आदि सैंकड़ों हिन्दू मुसलमान सन्त हमें बता गए हैं। वह रास्ता प्रेम का रास्ता है, भाईचारे का रास्ता है, स्वार्थ से ऊपर उठने का रास्ता है, और समन्वय का रास्ता है।*

—'विश्ववाणी'

किसी देश में अलग-अलग सम्प्रदायों का होना बुरा नहीं, लेकिन सामाजिक जीवन में उनका कदम-कदम पर अपनी साम्प्रदायिकता का बेसुरा राग अलापना, और राष्ट्रीयता भंग करना बहुत हानिकारक है। भारतवर्ष में अलग-अलग सम्प्रदायों के कारण, साम्प्रदायिक समस्या का जटिल स्वरूप धारण करना चिन्तनीय है।

**साम्प्रदायिकता का मूल; अज्ञान या स्वार्थ**—अगर हम विचार कर देखें तो हिन्दू किसान और मुसलमान किसान, हिन्दू मज़दूर और मुसलमान मज़दूर, हिन्दू बेकार और मुसलमान बेकार के स्वार्थों में कोई भेद नहीं है। वास्तव में 'साम्प्रदायिक' कही जानेवाली समस्याओं में कोई सार नहीं। इनका कारण लोगों का अज्ञान या स्वार्थ है। जब लोगों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह आजायगी कि एक देश या राष्ट्र

में रहनेवालों के स्वार्थ और हित मिले हुए होते हैं तो साम्प्रदायिकता का लोप हो जायगा। कौन नहीं जानता कि देश में अकाल, बाढ़, महामारी या मँहगी का धावा ब्राह्मण-अब्राह्मण अथवा हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को नहीं देखता। पूँजीवाद और सामन्तवाद हम सब का ही शोषण कर रहे हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य और आजीविका की चिन्ता हम सब को समान है।

साम्प्रदायिक नेता इन बातों को भुलाकर समय-बे-समय अलहदगी की बातें किया करते हैं। उनका उद्देश्य यह रहता है कि उन्हें अपने-अपने सम्प्रदायवालों से जाति-हितैषिता या धर्म-प्रेम की सनद मिले, सम्प्रदायवाले उनको सरकारी नौकरी, कौंसिलों की मेम्बरी अथवा कोई सामाजिक मान-प्रतिष्ठा दिलाने में मदद करें। नहीं तो यह साफ जाहिर है कि इस युग की खास समस्या रोटी-कपड़े की है। जहाँ रुपए पैसे का मामला आया, चोटी और दाढ़ी का भेद नहीं रहता; पंडित और मौलवी सब एक हो जाते हैं। मिसाल के तौर पर सूद की दर घटाने का विरोध सब साहूकार करते हैं, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान सिक्ख हों या ईसाई आदि।

**हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता**—हिन्दुओं के विचार से भारत में साम्प्रदायिकता ज्यादातर मुसलमानों में है, पर स्वयं हिन्दू भी इस रोग से बरी होने का अभिमान नहीं कर सकते। यह ठीक है कि जब हिन्दू-मुसलमान आदि कोई हिन्दुओं और अ-हिन्दुओं का प्रश्न उपस्थित होता है तो हिन्दू प्रायः अपनी फूट के भावों को दबा लेते हैं, पर जहाँ हिन्दू-हिन्दू का ही मामला होता है तो उनमें भी राष्ट्रीयता की कमी छिपाए नहीं छिपती। हमारी म्युनिसपेलटियों, जिला-बोर्डों और कौंसिलों में कहीं वैश्य और क्षत्री की बात आती है, कहीं ब्राह्मण और कायस्थ आदि की। निर्वाचन या चुनाव के समय हमारी कड़ी परीक्षा होती है। ऐसे उम्मेदवार या उनके एजन्ट बहुत कम होते हैं, जिन्हें अपने निजी स्वार्थ के लिए जातिगत या साम्प्रदायिक भावों के उभारने में कुछ संकोच

न होता हो। उस समय एकता का बाना उतार कर फेंक दिया जाता है, और मतदाओं से सम्प्रदाय या जाति-बिरादरी के नाम पर अपील की जाती है। इससे भोली-भाली जनता सहज ही बहक जाती है। प्रजातन्त्री शासन की स्थापना और संचालन के लिए आवश्यक है कि आदमी अपने आपको ओछे, निजी स्वार्थ वाले, साम्प्रदायिक भावों से बचाए रखें और सार्वजनिक विषयों पर राष्ट्रीय दृष्टकोण से विचार करें।

**हिन्दू-मुसलिम सवाल; पाकिस्तान बनने के बाद—**
१५ अगस्त १९४७ से भारतवर्ष के पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशों का, जहाँ मुसलमानों की आबादी अधिक थी, एक अलग राज्य (पाकिस्तान) बन गया है। पाकिस्तान का आन्दोलन करनेवाले मुसलिम नेताओं का कहना था कि पाकिस्तान राज्य बन जाने से हिन्दू-मुसलिम सवाल स्थायी रूप से हल हो जायगा। १५ अगस्त १९४७ से कुछ पहले तथा इसके बाद कुछ महीनों तक पाकिस्तान के लाखों हिन्दू शरणार्थी भारतीय सङ्घ में आए, तथा यहाँ के मुसलमान पाकिस्तान गए; उससे एक बार ऐसा आभास हुआ कि पाकिस्तान हिन्दुओं से करीब-करीब खाली हो जायगा, और भारत के अधिकांश मुसलमान पाकिस्तान चले जायँगे। इस प्रकार हिन्दू-मुसलिम सवाल का अन्त हो जायगा।

परन्तु यह केवल कल्पना ही थी। दो करोड़ हिन्दुओं में से सबके सब पाकिस्तान छोड़कर भारतीय संघ में नहीं आसके। और, भारतीय सङ्घ के लगभग पाँच करोड़ मुसलमानों के लिए पाकिस्तान में कहां गुञ्जायश है! यद्यपि पाकिस्तान बन जाने के बाद भारतीय सङ्घ में रहनेवाले मुसलमानों में इस राज्य के प्रति वफादार रहने की भावना धीरे-धीरे बढ़ी है, और उनमें अब पहले जैसी कट्टरता नहीं रही तथापि हिन्दू-मुसलिम समस्या का अन्त नहीं हुआ। वरन् यह कहा जा सकता है कि इसका एक पहलू पहले से भी अधिक बलवान हो गया है।

भारत के स्वतन्त्र होने के बाद यहाँ बहुसंख्यक वर्ग के आदमी यह

कहने लग गए हैं कि मुसलमानों का पाकिस्तान बन गया है, अब भारत (भारतीय सङ्घ) हिन्दुओं का है। यहाँ जो दूसरे सम्प्रदाय रहें उन्हें हमारी संस्कृति को अपनाना पड़ेगा। जैसा हम पहले कह चुके हैं, यह तो ठीक है कि यहाँ रहनेवाले मुसलमानों को अपनी निगाह पाकिस्तान आदि किसी दूसरे राज्य की ओर न रखकर भारत और भारतीयों से प्रेम करना और भारतीय बनना चाहिए। परन्तु हिन्दुओं का अपने आपको उनसे ऊँचा, योग्य, बहुसंख्यक या बलवान समझकर अपनी विचार-धारा उन पर बलपूर्वक लादने की भावना रखना ठीक नहीं है। हिन्दू संस्कृति के नाम पर संकीर्णता की बात सोचना या असहिष्णुता का व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है। हिन्दुओं को अपने व्यवहार से उस प्रेम और उदारता का परिचय देना चाहिए, जिससे उन्होंने प्राचीन काल में विविध विदेशी जातियों को अपने में मिलाया था।

**हिन्दुओं और मुसलमानों का आपसी सम्बन्ध—** भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान एक हजार वर्ष से साथ-साथ रहते आए हैं। कुछ थोड़ी-सी बातों को छोड़कर इनका आपसी सम्बन्ध बहुत प्रेम का रहा है। असल में अँगरेजों के आने से पहले यहाँ हिन्दू-मुसलिम समस्या आजकल की सी कभी नहीं रही; अपने मौजूदा रूप में यह समस्या ब्रिटिश सरकार की ही देन है। उसने इस देश में अपनी बुनियाद मज़बूत बनाने के लिए जनता को उकसाया और भड़काया। पृथक निर्वाचन, विशेष प्रतिनिधित्व, और साम्प्रदायिक निर्णय का रहस्य इसी बात में है।* असल में मुसलमान हिन्दुओं से इतनी दूर नहीं हैं, जितना समझा जाता है। वे ज्यादातर इसी देश के हैं, यहाँ की ही नस्ल और मिट्टी से उनकी पैदायश हुई, यहाँ के अन्न-पानी और हवा से उनका पालन-पोषण हुआ, और होता है। यहाँ ही उन्हें अपना अन्तिम समय बिताना होगा। हिन्दुओं की भीत से उनकी भीत, तथा खेत से खेत लगा हुआ है, चोली-दामन का साथ है। इस तरह भारत

* देखिए, हमारी 'निर्वाचन पद्धति'।

की ही भलाई उनकी भलाई और इस देश के नुकसान में उनकी भी हानि है। उनके कुछ तीर्थ भारत की हद से बाहर हैं और उनका कुछ दूसरे देशों के निवासियों से धर्म-सम्बन्ध है, तो भी उन्हें बाहर से किसी विशेष सहायता की आशा न करनी चाहिए। दुःख हो, सुख हो, हिन्दू ही उनके काम आएँगे।

इसलाम धर्म अवश्य अरब से आया तथा कुछ मुसलमान (जिनकी संख्या दाल में नमक बराबर भी नहीं है) उन लोगों के खानदान के हैं, जिन्होंने पश्चिमोत्तर सीमा से यहाँ प्रवेश किया। लेकिन शेष सब मुसलमान इसी देश के निवासियों में से हैं। वे हमारी ही नस्ल के हैं। पिछली सदियों में किसी लोभ से, ऊँची जाति वालों के दुर्व्यवहार से, अथवा किसी दूसरी मजबूरी से, कुछ हिन्दुओं ने अपना धर्म छोड़कर इसलाम धर्म मंजूर कर लिया। भारतवर्ष के वर्तमान मुसलमानों में से ज्यादातर उनके ही वंशज हैं। राजपूताना और मध्यभारत आदि की स्थिति का विचार करने से हिन्दू मुसलमानों के घनिष्ठ सम्बन्ध का पता अच्छी तरह मिल सकता है। यहाँ मुसलमानों के बहुत से रिवाज हिन्दुओं से मिलते-जुलते हैं। विवाह तथा मृत्यु सम्बन्धी रीतिरस्म अक्सर एकसी होती हैं। वे हिन्दुओं के देवी-देवताओं को पूजते हैं, ज्योतिषियों में श्रद्धा रखते हैं, गौ और ब्राह्मण का अब तक बहुत मान करते हैं, और हिन्दुओं से मिले रहते हैं।

**गोहत्या और बाजा**—आम तौर से हिन्दू-मुसलिम विरोध गोहत्या तथा बाजे के झगड़े के रूप में सामने आता है। असल में ये बातें तो विरोध या वैमनस्य के सिर्फ बाहरी लक्षण हैं। मूल विकार है भीतरी अविश्वास, जो मुसलमानों के हृदय में हिन्दुओं के प्रति है—चाहे यह अविश्वास अदूरदर्शी और खुदगर्ज नेताओं ने पैदा किया और बढ़ाया है, और चाहे अधिकारियों ने। तो भी गोवध और बाजे के बारे में कुछ विचार कर लेना अच्छा है। गाय की कुर्बानी मुसलमानों के लिए लाजमी नहीं है; यदि यह न की जाय तो उनके मुसलमानपन

में कुछ फ़र्क नहीं आता। अरब, मिस्र, मराको, टर्की व ईरान आदि देशों में गाय की कुर्बानी नहीं की जाती। भारत के मुसलमान भी यदि दूसरे पशु से काम ले लिया करें तो मेल के रास्ते से एक बड़ी रुकावट दूर हो जाय।

मुसलमान भाइयों को यह समझ लेना चाहिए कि भारतवर्ष में, खेती का धंधा मुख्य होने के कारण, बैलों का आर्थिक महत्त्व बहुत है, और गोहत्या से सभी की हानि है। जब गौओं की कमी, और उसके कारण दूध-घी की कमी और महँगाई होती है तो हिन्दू और मुसलमान सभी को कष्ट उठाना पड़ता है। इस तरह मुसलमानों के खुद अपने फ़ायदे के लिए भी गोरक्षा का विचार करना चाहिए। मुसलमानों से अक्सर अपील की जाती है कि हिन्दू गाय को माता के समान पूज्य मानते हैं, इसलिए गोहत्या नही की जानी चाहिए; ऐसी बात का साम्प्रदायिक मुसलमानों पर ज्यादा असर नहीं होता। उनके लिए हमें गौ के सवाल को धार्मिक स्वरूप न दे, आर्थिक दृष्टि से रखना चाहिए। और, असल में यह सवाल है भी ज्यादातर आर्थिक ही। मौलाना मुहम्मदअली ने कोकोनाडा कांग्रेस में सभापति के पद से भाषण देते हुए कहा था, कि 'हिन्दुस्तान के वे मुसलमान, जो महँगा भेड़-बकरी का मांस खरीद सकते हैं, गो-मांस बहुत कम खाते हैं, किन्तु गरीब मुसलमानों के लिए तो यह खास भोजन है।' इस तरह विचार करें तो गोरक्षा का मुख्य उपाय यह है कि गौओं की नस्ल सुधारी जाय, और उनका दूध बढ़ाया जाय, जिससे वे अधिक उपयोगी और कीमती हो; उन्हें मारने में नफा न होकर सरासर नुकसान हो।

अब बाजे की बात लीजिए। बहुधा हिन्दुओं के विवाह-शादियों या त्योहारों और उत्सवों के अवसर पर मुसलमान बाजे से अपनी 'नमाज में खलल' (प्रार्थना में बाधा) पड़ने का बहाना लेकर झगड़ा-टंटा कर बैठते हैं। लेकिन जब खुद मुसलमान भाई मोहर्रम आदि के मौके पर

खूब धूमधाम करते हैं तो उन्हें हिन्दुओं के बाजे पर एतराज क्यों करना चाहिए। फिर, जबकि बहुत-सी मसजिदें सड़क के किनारे हैं तो इक्के, मोटर, ट्राम आदि का शोरगुल हर समय उन मसजिदों में पहुँचेगा ही; उसे किसी तरह रोका नहीं जा सकता। जो भाई पूजा-प्रार्थना बहुत ही शान्ति से करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि अपने मन्दिर मसजिद बस्ती से बाहर एकान्त में बनावें!

देखिए, मौलवी लियाकतहुसेन का कहना है, "हर आदमी को आम रास्ते काम में लाने का हक है। हर कोई आम रास्तों पर सजावट और बाजे-गाजे के साथ निकलने का हकदार है। हम मुसलमानों को, मसजिद के पास भी, उनको रोकने का हक नहीं है। दूसरे सब मुसलिम देशों में—अरब, फारिस आदि में—बाजा सार्वजनिक मनोरंजन की चीज है। वहां सार्वजनिक जलूस बाजे के साथ निकाले जाते हैं; फिर हिन्दुस्तान में ही इतना हल्ला क्यों मचाया जाता है!"

मौलवी कुतुबुद्दीन अहमद (भूतपूर्व मंत्री, बंगाल प्रान्तीय मुसलिम लीग) ने कहा है "मेरे विचार में बाजे के सवाल का शरियत के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, और कुछ स्वार्थी लोगों ने गोहत्या का पलड़ा बराबर रखने के लिए ही अपने समाज के अनपढ़ आदमियों को भड़काने का आन्दोलन खड़ा किया है। कुछ भाड़े के मौलवी सर्वसाधारण को समझा रहे हैं कि बाजे का सवाल धार्मिक है, और इससे धर्म खतरे में पड़ता है। वे इस खिलवाड़ को इसीलिए जारी रखना चाहते हैं, जिसमें उनकी थैली भरे।"

जरूरत है कि संकीर्णता या तंगदिली को छोड़कर लोग कुछ उदार बनें, और इन तुच्छ बातों पर झगड़ा न किया करें। हम तो मुसलमानों से यह कहेंगे कि अपने पड़ोसी हिन्दू भाइयों के विवाह-शादियों और त्योहारों में किसी प्रकार की बाधा डालने के बजाय, उन्हें खुशी मनानी और उनमें शामिल होना चाहिए। इसी तरह की सलाह हम हिन्दुओं को भी देना उचित समझते हैं।

**अल्पसंख्यकों की समस्या; दूसरे देशों में इसका हल**—भारतवर्ष में विविध सम्प्रदायों का होना कुछ नई बात नहीं है, यह हजारों वर्ष से है; परन्तु अल्पसंख्यकों की समस्या इसी जमाने की है, यह अँगरेज़ों के समय में, और उनकी सहायता तथा कूटनीति से ही पैदा हुई और बढ़ी है। यह हमें पराधीन रखने में उनकी सहायक हुई है। असल में अल्पसंख्यकों की समस्या के नाम पर जो आन्दोलन यहाँ किया ज़ाता है, उससे किसी सम्प्रदायवालों की कुछ खास भलाई नहीं होती। मानलो, एक सम्प्रदाय के आदमियों के लिए व्यवस्थापक सभाओं में कुछ स्थान सुरक्षित कर दिए गए, या उन्हें कुछ सरकारी नौकरी या प्रतिष्ठा अधिक मिल गई तो यह बात मुट्ठी भर लोगों तक ही तो रहेगी; इससे उस सम्प्रदाय के लाखों-करोड़ों आदमियों की दशा नहीं सुधर सकेगी। इसके खिलाफ़, यह सम्भव है कि वे इससे अपनी योग्यता बढ़ाने में कुछ बेपरवाह हो जायँ, और इस तरह अपनी उन्नति में रुकावट डालें। इसके अलावा इससे दूसरे सम्प्रदायों का अल्पसंख्यकों से द्वेष बढ़ने और सहानुभूति घटने की आशंका होती है।

भारतवर्ष में अल्पसंख्यकता का विचार साम्प्रदायिक भेद के आधार पर किया जाता है; दूसरे देशों में ऐसा नहीं किया जाता, वहां जातिभेद के आधार पर ही किसी समुदाय को अल्पसंख्यक माना जाता है। मिसाल के तौर पर जेकोसलेविया में जर्मन, पोल और हंगरियन अल्पसंख्यक थे तो जाति-भेद के विचार से, न कि साम्प्रदायिक आधार पर। फिर, योरप के किसी राज्य में अल्पसंख्क समुदाय वह माना जाता है, जिसकी कम-से-कम संख्या, वहाँ फी सैकड़ा २० हो। और, इन अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार किस बात में मिलता है? राष्ट्र-संघ (लीग-आफ-नेशन्स) ने विविध राष्ट्रों की सम्मति से जो नियम निर्धारित किए थे, उनमें तीन बातें मुख्य मानी गई थीं—(१) राष्ट्रीयता एक तथा अखंड होनी चाहिए; जिस देश में जिन लोगों की संख्या अधिक है,

उन्हीं लोगों की राष्ट्रीयता मानी जानी चाहिए, (२) राज्य का शासन इकट्ठा ही होना चाहिए, इसमें किसी जाति के विशेष प्रतिनिधि न होने चाहिएँ, (३) अल्पसंख्यकों की जो रक्षा हो, वह सिर्फ (क) धर्म, (ख) भाषा, और (ग) संस्कृति के ही सम्बन्ध में होनी चाहिए। इन सिद्धान्तों को संसार के बहुत से राज्यों ने अमल में ला रखा है।

इस विचार से भारतवर्ष में मुसलमानों को भारतीय सङ्घ या उसके किसी भाग में जो विशेष अधिकार मिल सकता है वह केवल धर्म, भाषा और संस्कृति के सम्बन्ध में ही हो सकता है। उन्हें किसी तरह राजनीतिक पृथक्ता अलहदगी) का अधिकार नहीं मिल सकता, जैसे पृथक निर्वाचन, विशेष प्रतिनिधित्व, सरकारी नौकरियों की संख्या तय करना, या प्रान्तों का निर्माण या बँटवारा आदि। इसी प्रकार दूसरे सम्प्रदायों के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है।

अस्तु, अब इस देश से ब्रिटिश सत्ता उठ जाने पर इन फूट डालने और द्वेष बढ़ाने वाली बातों का भी अन्त हो गया। स्वराज्य-प्राप्त भारतीय संघ के नए विधान में पृथक् चुनाव-पद्धति उठा दी गई और संयुक्त निर्वाचन-पद्धति ही स्वीकार की गई है।

**एकता और समझौते**—हम पहले कह चुके हैं कि गाँवों में हिन्दू-मुसलमानों की संस्कृति और रहनसहन में खास फरक नहीं है; वहाँ इनके झगड़े शुरू नहीं होते, ये झगड़े तो शहरों में आरम्भ होते हैं; और वहाँ से कभी-कभी गांवों में पहुँचने लगते हैं। आचार्य बिनोवा ने ठीक लिखा है कि 'कुछ महत्वाकाँक्षी, बेकार और पढ़े-लिखे लोग दोनों को भिड़ाकर खिलवाड़ करते हैं। ये लोग प्रायः शहरी ही होते हैं। ऐसे आदमी जहाँ तक उनका वश चलता है, एकता नहीं होने देते!'

बहुत से देश-प्रेमी सज्जन तरह-तरह के सम्प्रदायों में एकता कायम करने के उत्सुक रहे हैं। असल में एकता या समझौता वही सफल और स्थायी होता है, जिसका आधार सबके साथ न्याय हो। विशेषाधिकार के

प्रलोभन या बाजारू मोलभाव के पक्षपात-पूर्ण समझौते से जो सफलता होती है, वह थोड़ी ही देर रहती है। जिस समूह के साथ एक बार कोई अनुचित रियायत कर दी जाती है, वह साधारण तौर से अपनी अलहदगी का अनुभव करने लगता है, उस रियायत को अपना अधिकार समझने लगता है, और पीछे उसे और अधिक बढ़वाने की फ़िक्र में रहता है। इस तरह उसका असंतोष रहता है, और वह एकता में बाधक होता है।

एकता स्थापित होने में एक खास बाधा हमारी पराधीनता रही है। विदेशी शासकों ने ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों की बातें करते हुए भी दिल से यह नहीं चाहा कि देश से फूट दूर हो; फूट के ही सहारे तो वे यहाँ जमे रहे। जब कभी कोई समझौते की बात उठी, वे चौकन्ना हो गए। मिसाल के तौर पर सन् १९४४ में गाँधी-जिन्ना वार्तालाप शुरू होने के जरा ही पहले लार्ड वेवल ने गाँधी जी को साफ लिख दिया था कि 'अगर काँग्रेस और मुसलिम लीग में समझौता हो जाय तब भी अछूत, देशी राज्य, सिक्ख, और दूसरे अल्पमतवाले मौजूद हैं।'

अस्तु, अब भारत के स्वतंत्र होने पर हमारी इस प्रकार की बाधा दूर हो गई है। साथ ही गत वर्षों के समझौतों सम्बन्धी जो अनुभव हमें प्राप्त हुआ है, उस से भी हम लाभ उठा सकते हैं।

**साम्प्रदायिकता मिटाने के उपाय** — साम्प्रदायिकता का अन्त करने के लिए नेताओं के पास जाना बेकार है। उन्हें तो समाज या राष्ट्र के हित की अपेक्षा अपनी नेतागिरी की चिन्ता अधिक होती है। ये लोग समझौते के लिए, अमल में न आ सकनेवाली शर्तें रखते हैं, साम्प्रदायिकतापूर्ण भाषण देते या वक्तव्य प्रकाशित करते हैं, और अलग संस्था बनाए रखकर अपना मतलब सिद्ध करते रहते हैं। इन नामधारी नेताओं से समझौता करने में सफलता की आशा छोड़कर राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को सीधे जनता के सम्पर्क में आना चाहिए, सर्व-

साधारण के भावों और विचारों को जानना तथा उनपर सहानुभूति और उदारतापूर्वक ध्यान देना चाहिए।

**व्यावहारिक बातें; सर्वोदय की भावना**—आवश्यकता है कि कार्यकर्ता अपने पारस्परिक व्यवहार में—सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी आदि सभी क्षेत्रों में—शुद्ध हृदय से और सर्वोदय की भावना से काम लें। इस सम्बन्ध में "लोकवाणी" (साप्ताहिक, जयपुर) की निम्नलिखित पंक्तियाँ बहुत शिक्षाप्रद हैं—

"हिन्दू-मुसलमान दोनों को एक दूसरे के धर्मग्रन्थ, रीति-रिवाज, विचार-आदर्श आदि को जानना चाहिए और उनके ऐतिहासिक मूल्य को समझते हुए समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। साथ ही सबकी अच्छाइयों को पकड़ने और बुराइयाँ उन्हीं के लिये छोड़ देने की वृत्ति को भी विकसित करना वाजिब है। इसके लिए यह जरूरी है कि हिन्दू-मुसलमानों के सम्पर्क के मौके अधिक-से-अधिक बढ़ें। जन्म, विवाह, मृत्यु, हँसी-खुशी, शोक-रंज सभी अवसरों पर इस संपर्क को ग्रहण किया जाय, सहभोज और विवाह सम्बन्धों को प्रोत्साहित किया जाय।

साम्प्रदायिकता के जहर के विनाश की शुरुआत बालकों से होनी चाहिए। सभी सम्प्रदायों के बालक साथ खेलें-कूदें, पढ़ें-लिखें, खाएँ-पीएँ। उनका शिक्षण बिल्कुल एकसा होना चाहिए। हिन्दू होने के कारण संस्कृत पढ़ें, और मुसलमान होने के कारण फारसी पढ़ें—यह प्रबन्ध शासन की ओर से होना ग़लत है। मुसलिम स्कूल और हिन्दू स्कूल का तो शासन से कोई वास्ता होना ही नहीं चाहिए। पाठ्यक्रम सबके लिए समान हो और इतिहास तथा अन्य शिक्षण की पूरी तरह जाँच करके सारे पाठ्यक्रम गैर-साम्प्रदायिक और सर्वोदय भावना के आधार पर तैयार होने चाहिएँ। हाँ विश्वविद्यालय की कक्षाओं में विभिन्न दृष्टिकोण और साधन-स्रोत उनके सामने रखे जा सकते हैं।

"हमारे देश में अशिक्षितों की संख्या बहुत बड़ी है, देश के

शासन को प्रौढ़ शिक्षण की ओर भी ध्यान देना ही होगा। इस शिक्षण-क्रम में भी गैर-फिरकेवाराना भावना को विकसित करने का पूरा मसाला रखा जासकता है। सारा पाठ्यक्रम और दृष्टिकोण बिल्कुल असाम्प्रदायिक रखा जाय तो हमारा उद्देश्य आसानी से पूरा हो सकता है। शिक्षण के अतिरिक्त आधुनिक ज्ञान के साधनों—पत्र-पत्रिकाओं और अन्य साहित्य –के लेखकों, सम्पादकों आदि द्वारा भी इस दिशा में बहुत काम किया जा सकता है. अगर बहुसंख्यक वर्ग में महत्ता की भावना और अल्पसंख्यक वर्ग में लघुता की भावना न हो और सर्वोदय की समभावना से दोनों ओतप्रोत हों।"

**विशेष वक्तव्य**—हमें यह अनुभव करना चाहिए कि हम चाहे जिस सम्प्रदाय आदि के अनुयायी क्यों न हों, भारतवर्ष में रहने के नाते हम सब भारतीय हैं, और भारतवर्ष की भलाई हम सब की भलाई है; अलग-अलग जातियां या सम्प्रदायों के पृथक्-पृथक् हितों का विचार करना ठीक नहीं है।

—:-:—

## बारहवाँ परिच्छेद

# प्रान्तीयता

—:-:—

*प्रान्तीयता की शरण लेकर हम अपना ही ह्रास करेंगे। राष्ट्र-निर्माण के इस पवित्र अवसर पर हमें माला के पुष्पों की भांति एक सूत्र में ग्रथित हो जाना चाहिए।* —'जय हिन्द'

हरेक राष्ट्र के लिए राजनीतिक एकता का होना जरूरी है। भारतवर्ष की एकता की दो बाधाओं—जाति-भेद और साम्प्रदायिकता—के बारे में पहले लिखा जा चुका है, यहां एक और बाधा—प्रान्तीयता—के बारे में विचार करते हैं। प्रान्तीयता की भावना प्राकृतिक है। आदमी के विकास

की एक ऐसी अवस्था होती है, जब उसका विचार-क्षेत्र और सहानुभूति गाँव, नगर और जिले से आगे बढ़ती है, परन्तु राष्ट्र तक नहीं पहुँचती। यह बीच की अवस्था प्रान्तीयता है।

**प्रान्तों की रचना**—वर्तमान प्रान्तों की स्थिति और स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि इनकी रचना किसी खास सिद्धान्त पर नहीं हुई है। शासकों ने अपनी सुविधा के अनुसार भारतवर्ष को विविध प्रान्तों में बाँट दिया; कभी कोई प्रान्त या उसका कुछ हिस्सा दूसरे में मिला दिया, कभी किसी का क्षेत्र कुछ कम कर दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रारम्भ-काल में प्रान्त बहुत छोटे-छोटे थे; पीछे उसके राज्य का विस्तार बढ़ने पर प्रान्तों का आकार बढ़ता गया। सन् १८५७ तक अधिकाँश भारत पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से (राजाओं के द्वारा) अँगरेज़ों का शासन स्थापित हो गया। तो भी भौगोलिक स्थिति, जनता या उसकी भाषा आदि का विचार करके प्रान्तों की सीमा निर्धारित करने का कार्य नहीं किया गया। उदाहरण के तौर पर लार्ड कर्जन के समय में बंगाल, बिहार और उड़ीसा ये तीन प्रान्त एक ही प्रान्त के अंग माने जाते थे। समय-समय पर कुछ परिवर्तन होते रहने पर भी प्रायः प्रान्तों की रचना अस्वाभाविक ही रही।

**पुनर्निर्माण की मांग; मुख्य कारण**—धीरे-धीरे भाषा या संस्कृति आदि के आधार पर प्रान्तों के बँटवारे या नए प्रान्तों के निर्माण की माँग होती गई। खासकर पिछले तीस वर्ष से यह मांग बढ़ती रही है! इसकी पृष्ठ-भूमि में विशेषतया शिक्षित वर्ग का आर्थिक स्वार्थ है। अँगरेजी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों को सरकारी नौकरी के योग्य बनाना था। इस शिक्षा को सब से पहले और सबसे अधिक बंगाल ने अपनाया। मदरास में भी इसका खूब प्रचार हुआ। जगह-जगह इन्हीं प्रान्तों के आदमी अध्यापक, वकील और डाक्टर आदि अधिक संख्या में होने लगे। क्रमशः अन्य प्रान्तों में इसका विरोध हुआ। प्रान्तीय पबलिक-सर्विस-कमीशनों के बनने पर उन्होंने ऐसा

नियम बनाया कि किसी प्रान्त में नौकरी पाने के लिए आदमी को उसी प्रान्त का निवासी होना चाहिए। इससे एक प्रान्त में दूसरे प्रान्त वाले उम्मेदवारों के लिए नौकरी का दरवाजा बहुत-कुछ बन्द हो गया। इस प्रकार प्रान्तीयता का आन्दोलन मुख्य रूप में मध्यवर्ग का आन्दोलन है। प्रथम योरपीय महायुद्ध के बाद सन् १६२० में संसार के दूसरे अनेक देशों की तरह भारतवर्ष में भी आर्थिक संकट उपस्थित हुआ, लोगों के आर्थिक स्वार्थ टकराए। उन्होंने भाषा आदि के आधार पर प्रान्तों की रचना की माँग की। प्रान्तीय स्वराज्य की बात के साथ, और खासकर १६३५ के शासन-विधान से लोगों में प्रान्तीयता की भावना बहुत बढ़ी है।

**प्रान्तीयता की भावना** थोड़ी बहुत प्रान्तीयता तो सभी प्रान्तों के निवासियों में है; पर किसी-किसी प्रान्त में यह संकीर्ण भावना बहुत ही हानिकारक सीमा तक पहुँची हुई है। उदाहरण के तौर पर बंगाल की बात लीजिए। हम उन महाशयों की महत्वपूर्ण सेवाओं का यथेष्ट आदर करते हैं, जिन्होंने अनेक कष्ट और असुविधाएँ सहन करके भी अपने आचार-व्यवहार तथा भाषण और लेखों से राष्ट्रीय भावों के प्रचार में खूब योग दिया है, तथापि यह सर्वविदित है कि कितने ही बंगाली नेताओं या विद्वानों ने अपने बुद्धिबल के सामने दूसरे प्रान्त वालों को निम्न श्रेणी का समझा। वे प्रायः हिन्दी की उपेक्षा करते रहे। यहाँ तक कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उपस्थित होने पर कितने ही ऐसे बंगाली सज्जनों ने भी इस पद के लिए बंगला भाषा की वकालत की, जिनके प्रति भारतीय जनता को बड़ी श्रद्धा थी, जो अखिल भारतीय ख्याति के थे, और जिनसे बहुत निष्पक्ष होने की आशा थी।

मदरास की बात लीजिए। वहाँ कई वर्ष हिन्दी-प्रचार का कार्य होने से अनेक युवकों ने ही नहीं बड़ी उम्र की महिलाओं और पुरुषों ने राष्ट्र-भाषा का प्रशंसनीय ज्ञान प्राप्त किया और कर रहे हैं, और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा उत्तरोत्तर प्रगति करती जा रही है, तथापि

कितने ही प्रमुख मदरासी नेता अभी तक अँगरेजी में व्याख्यान देते हैं, और जब जनता इसका बहुत विरोध करती है तो वे बड़ी अटपटी हिन्दी बोला करते हैं। अब भारतवर्ष के स्वतन्त्र हो जाने पर यह बहुत ही खटकता है; यह बन्द होना चाहिए।

**प्रांतों का आपसी संघर्ष**—राष्ट्रीयता का विकास अच्छी तरह न होने के कारण, यहाँ जगह-जगह आदमी प्रान्तीयता के भावों में फँसे पाए जाते हैं। इसलिए कहीं बंगाली-बिहारी समस्या है; कहीं बंगाली-महाराष्ट्रीय, कहीं महाराष्ट्रीय-हिन्दुस्तानी, और, कहीं तमिल-तेलगू आदि। इन सब समस्याओं को हल करने के लिए ज़रूरी है कि हमारे भाई इस बात को अच्छी तरह समझलें कि राष्ट्रीय एकता बढ़ाने के लिए संकुचित प्रान्तीय भावना हटा दी जानी चाहिए। प्रांत की उन्नति में भरसक योग देना उचित और उपयोगी है, लेकिन प्रांतीय प्रश्नों पर विचार करते हुए हम कभी राष्ट्रीय दृष्टिकोण की अवहेलना न करें। जो आदमी अपने प्रान्त से जुदा किसी दूसरे प्रांत में रहते हों, उनका कर्त्तव्य है कि वे उस प्रांत की भाषा सीखें, यहाँ की संस्कृति और संस्थाओं का आदर करें, वहाँ के आदमियों से मिलजुल कर रहें, स्नेह और सद्भावना से उस प्रान्त के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हित के कार्यों में योग दें। उस प्रान्त के निवासियों का भी फर्ज है कि वे दूसरे प्रान्त से वहाँ आकर बसे हुए आदमियों से किसी तरह का द्वेष-भाव न रखें, वे इस बात को न भूलें कि ये दूसरे प्रान्त वाले भी उसी भारतीय राष्ट्र के हैं, जिसके हम हैं, और जिसका हित हम सब चाहते हैं।

**एक उदाहरण; बंगाली-बिहारी समस्या**—इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डालने के लिए बिहार की मिसाल पर विचार करना उचित होगा। पहले यह प्रान्त बङ्गाल का हिस्सा था! उस समय शिक्षा आदि में बिहारी बहुत पिछड़े रहे; उन्हें सरकारी नौकरियाँ भी बहुत कम मिलीं। बिहार के अलग प्रान्त बन जाने पर उन्होंने

धीरे-धीरे शिक्षा आदि में उन्नति की, और वे अपने प्रान्त में काफी नौकरियाँ पाने लगे। इसमें, वहाँ आकर बसे हुए बंगालियों के स्वार्थ में बाधा पहुँचने लगी। बस, बंगाली-बिहारी समस्या पैदा हो गई। कांग्रेस के शासन-काल (१९३७-३९) में, उसकी कार्य-समिति ने मान्यवर डा० राजेन्द्रप्रसाद को इस विषय की जाँच करने के लिए नियुक्त किया और उनकी रिपोर्ट पर विचार करके एक प्रस्ताव मंजूर किया, उनकी खास-खास बातें ये हैं ;—

(१) भारत को एक मजबूत स्वतन्त्र राष्ट्र बनाने के लिए यह आवश्यक है कि अलहदगी और संकुचित प्रांतीयता की प्रवृत्तियों को दबाया जाय, पर साथ ही नौकरियों तथा इस तरह के दूसरे विषयों में प्रांत के आदमियों की माँग की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

(२) ऊँची नौकरियों का बँटवारा करते समय देश के दूसरे भागों के उम्मेदवारों के लिए रुकावट न रखी जाय, लेकिन (क) प्रान्त के जुदा-जुदा सम्प्रदायों को काफी प्रतिनिधित्व जरूर मिलना चाहिए। (ख) पिछड़े हुए निवासियों का उत्साह अधिक-से-अधिक बढ़ाया जाय, जिससे वे राष्ट्र के कार्यों में पूरा हिस्सा ले सकें। (ग) तरजीह देने का फैसला प्रान्तीय सरकारों के निश्चित नियमों के अनुसार हो, जिससे पक्षपात न किया जा सके।

(३) जहाँ तक बिहार का सम्बन्ध है; बिहारियों और इस प्रान्त में पैदा हुए बंगलाभाषियों तथा 'डोमिसाइल्ड' (बसे हुए) बंगालियों में भेदभाव न रखा जाय। नौकरियों तथा दूसरे मामलों में इनके साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए।

(४) बसे हुए होने का सबूत इस बात से मिलेगा कि उम्मेदवार ने इस प्रान्त को अपना घर बना लिया है या नहीं; वह कितने दिन प्रांत में रह चुका है, प्रान्त में उसका मकान या और तरह की जायदाद है या नहीं। इस प्रांत में जन्म होना या लगातार दस साल रहना 'डोमिसाइल्ड' साबित करने के लिए काफी है।

(५) प्रांत में व्यवसाय-व्यापार करने के लिए किसी पर रोक न रहे। जरूरत है कि कारखाने पड़ोस के लोगों को नौकरी देकर उनसे सम्बन्ध बढ़ावें।

(६) जब प्रांत की शिक्षा-संस्थाओं में स्थान सीमित हो तो अलग-अलग सम्प्रदाय वालों के हिस्से सुरक्षित रखे जायँ; हाँ प्रान्त के लोगों को तरजीह दी जा सकती है।

(७) बिहार के उन हल्कों में जहाँ बंगला ज्यादा बोली जाती है, प्राइमरी स्कूलों में बंगला भाषा से शिक्षा दी जाय; यहाँ हिन्दी भाषा-भाषियों की संख्या काफी होने पर हिन्दुस्तानी पढ़ाने का भी इन्तजाम हो। ऊँची कक्षाओं की पढ़ाई हिन्दुस्तानी के जरिए हो। लेकिन बङ्गला की पढ़ाई का भी इन्तजाम हो। स्थानीय जनता की माँग के मुताबिक उसकी भाषा की पढ़ाई का प्रबन्ध होना चाहिए।

समिति ने यह सलाह दी कि दूसरे प्रान्तों में भी, इन नियमों को ध्यान में रख कर, कार्य किया जाय। कहना नहीं होगा कि समिति ने गम्भीरता से काम लिया। उसने प्रांत-हित के साथ राष्ट्र-हित का मेल बैठाया; प्रांत-निवासियों के अधिकार सुरक्षित रखते हुए भी बाहर वालों के लिए कोई असुविधाजनक बातें नहीं कीं। आशा है दूसरे प्रांतवाले भी ऐसा ही विचार रखेंगे, और समिति का निर्णय उन्हें उचित रास्ता सुझाएगा। अब हम उन बातों का विचार करते हैं, जिनके आधार पर नए प्रांतों के निर्माण की बात उठाई जाती है।

**भाषा की बात**—खासकर मदरास, बम्बई और मध्यप्रान्त का विभाजन भाषा के आधार पर करने की माँग बहुत समय से है। दक्षिण भारत में चार भाषाओं के बोलनेवाले अलग-अलग काफी संख्या में हैं, और हरेक भाषा के बोलनेवाले एक विस्तृत भू-भाग पर फैले हुए हैं। इस दृष्टि से मदरास प्रान्त के चार भाग किए जायँ—आन्ध्र, तामिलनाड, केरल और कर्नाटक। बम्बई प्रान्त की मुख्य भाषाएँ मराठी और गुजराती हैं, और इनके बोलनेवालों के दो अलग-

अलग प्रांत--महाराष्ट्र और गुजरात—बनाए जायँ; ये कुछ अंश में इस समय हैं भी। मध्यप्रान्त को महाकौशल और विदर्भ प्रान्तों में विभक्त करने की माँग है।

इस तरह की माँग देखकर कांग्रेस ने भाषा के आधार पर प्रांतों के पुनर्निमाण की बात मान्य कर रखी है। यद्यपि भाषा के आधार पर प्रांतों का निर्माण हो जाने से शासन-कार्य में कुछ सुविधा होती है, प्रांतों की सीमा निर्धारित करने में सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक आदि अन्य बातें भी कम महत्व की नहीं होतीं। फिर, राष्ट्रीय दृष्टि से तो विभिन्न भाषा-भाषियों के थोड़े-बहुत मिश्रित प्रान्त होना अधिक उपयोगी है, जिससे भाषाएँ कुछ मिश्रित हो जायँ, और पृथक्ता की भावना दूर हो कर राष्ट्रीयता-वृद्धि में सहायता मिले।

**संस्कृति का विचार**--कुछ आदमी प्रान्तों की पुनर्रचना, उनकी पृथक्-पृथक् संस्कृति के आधार पर, करने की बात कहा करते हैं। परन्तु बंगाली संस्कृति, बिहारी संस्कृति, महाराष्ट्र संस्कृति आदि में प्रान्तीय रीति-रस्म के सिवाय और क्या अन्तर है! और, ज्यों-ज्यों आमदरफ्त बढ़ती जाती है, वह अन्तर कम होना स्वाभाविक है। प्रान्तों की रचना में इस अन्तर को बढ़ने का अवसर न मिलना चाहिए। वास्तव में विविध प्रान्तों की संस्कृतियों में कोई मौलिक मतभेद नहीं है, और हमें तो ऐसी संस्कृति के विकास में सहायक होना चाहिए, जो मानव संस्कृति के अनुरूप हो।

इस विषय में संयुक्तराज्य अमरीका से शिक्षा लेनी चाहिए। वहाँ योरप के विविध देशों के आदमी रहते हैं, फिर भी वह खूब संगठित और शक्तिशाली राज्य है; उसके सब आदमी अपने आप को अमरीकी कहने में गौरव अनुभव करते हैं।

**साम्प्रदायिक भावना**—प्रान्तों की पुनर्रचना की माँग में लोगों की साम्प्रदायिक भावना ने बहुत काम किया है। यहाँ तक कि यह देश के विभाजन का मुख्य कारण है। पाकिस्तान राज्य बन जाने से पंजाब

के दो भाग हो गये हैं; वैसे भाषाएँ यहाँ मुख्य रूप से तीन बोली जाती हैं—हिन्दी, पंजाबी और लंहडी। बंगाल को भी पंजाब की तरह साम्प्रदायिक आधार पर ही पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बंगाल में बाँट दिया गया है। अन्यथा इसके विभाजन की कोई आवश्यकता न थी। बंगला भाषा सारे बंगाल में व्यापक रूप से बोली और पढ़ी जाती है; और बंगाल के सब हिन्दुओं और मुसलमानों की यही भाषा है। इस समय भी बंगाल के दोनों भागों में राजभाषा बंगला ही रहेगी। वास्तव में कुछ धार्मिक मतभेदों को छोड़कर सारे बंगाल के हिन्दू और मुसलमानों की भाषा, संस्कृति, कला, वेश-भूषा और सामाजिक विचार एकसे हैं; और, कुछ क्षेत्रों में यह आशा बनी ही है कि थोड़े-बहुत समय में बंगाल फिर संयुक्त होकर रहेगा।

**नेतागिरी की चाह**—बहुत-से आदमी प्रान्त की पुनर्रचना के आन्दोलन का समर्थन तो भाषा या संस्कृति आदि के नाम पर करते हैं पर असल में इसके मूल में उनकी निजी महत्वाकाँक्षा होती है। वे नेतागिरी के भूखे होते हैं। उन्हें यह आशङ्का रहती है कि बड़े प्रान्त में उनकी विशेष मान-प्रतिष्ठा न होगी; यदि छोटे-छोटे प्रान्त बनें तो उन्हें कोई ऊँचा पद मिलने की सम्भावना अधिक होगी। इसलिए वे नए और छोटे प्रान्तों की रचना का आन्दोलन किया करते हैं! राष्ट्र-हितैषियों को इस विषय में बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है।

**वर्तमान परिस्थिति**—इस समय जो लोग नए प्रान्तों की रचना या प्रान्तों के पुनर्निमाण का आन्दोलन चला रहे हैं, वे प्रायः वर्तमान परिस्थिति का यथेष्ट विचार नहीं करते सोचना चाहिए कि देश के दो भाग हो जाने से और पाकिस्तान के अधिकारियों के दुर्व्यवहार से भारतीय संघ को इस समय बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। दूसरे रचनात्मक कामों की कम ज़रूरत नहीं। क्या ऐसे अवसर पर प्रान्तों के पुनर्निमाण की जल्दी करना उचित है? इस समय तो हमें वर्तमान सरकार को अधिक-से-अधिक मज़बूत बनाना है, और प्रान्त

स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है। प्रान्तों की पुनर्रचना हमारा घरू प्रश्न है। कुछ अवकाश और सुविधा मिलने पर हम इसे पीछे शान्तिपूर्वक हल कर लेंगे।

संविधान-सभा ने एक कमेटी, भाषा के आधार पर प्रान्तों की रचना की जाने के विषय पर विचार करने के लिए, नियुक्त की थी, उसने निश्चय किया है कि वर्तमान अवस्था में यह व्यावहारिक नहीं है!

**ध्यान देने की बात**—भाषा, संस्कृति, सामाजिक आचार-विचार और आर्थिक कारणों से बहुत आवश्यक होने पर किसी प्रान्त का विभाजन होना अनुचित नहीं है। पर यह कार्य सद्भावना-पूर्वक होना चाहिए। इस बात की आवश्यकता स्पष्ट है कि किसी प्रान्त के आदमी अपने प्रान्त की उन्नति का विचार करते समय राष्ट्र-हित को अपनी आँखों से ओझल न होने दें। उन्हें देश की तत्कालीन परिस्थिति का यथेष्ट ध्यान रखना चाहिए। फिर, एक स्वतन्त्र प्रान्त को गवर्नर, मंत्रिमंडल, हाईकोर्ट, विधान सभा, विश्वविद्यालय आदि—सभी की जरूरत होती है। ये सब कार्य व्यय-साध्य हैं। आवश्यकता है कि नए प्रान्तों के बनाने के साथ शासन-व्यय का परिमाण बेहद न बढ़ने दिया जाय, मितव्ययिता से काम किया जाय, सरकारी आय अधिकतर राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में लगाई जाय, जिससे जनता की आर्थिक और नैतिक दशा में सुधार हो।

**अन्तर्प्रान्तीय सहानुभूति और सहयोग**—मौजूदा हालत में आमतौर से एक प्रान्त के आदमी प्रायः दूसरे प्रान्तवालों के दोष निकालते रहते हैं। अकसर आदमी यह कहते पाए जाते हैं कि अमुक प्रान्त के आदमी बड़े बुद्धू होते हैं, उस प्रान्तवाले बड़े कंजूस या झगड़ालू हैं, उस प्रान्तवालों में घमण्ड बहुत है, इत्यादि। ऐसी बातें कहना हमारा ओछापन जाहिर करता है। जब तक ऐसा वातावरण रहेगा, हम पूरे राष्ट्र का निर्माण कैसे कर सकते हैं! आवश्यकता है कि हम एक-दूसरे के भावों और विचारों को समझने की कोशिश करें। इस समय तो

राष्ट्रीयता का दम भरनेवाले बन्धुओं में भी ऐसे कम ही हैं, जो दो से ज्यादा प्रान्तों की भाषाएँ जानते हों; तथा जिन्हें ऐसे खान-पान और रहनसहन का अभ्यास हो कि दूसरे प्रान्तों में जाकर उन्हें कुछ असुविधा तथा अनोखापन मालूम न होता हो। अकसर हमें दूसरे प्रान्तों के साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अँगरेजी पुस्तकों का आसरा लेना पड़ता है।

जरूरत है कि हरेक प्रान्त अपनीभाषा, संस्कृति और साहित्य आदि की उन्नति करता हुआ कम-से-कम अपने नज़दीक के प्रान्तों की अच्छी-अच्छी बातें लेता रहे; आदमी आपस में मिलने और विचार-विनिमय करने के, और एक दूसरे का रहनसहन तथा भाषा और व्यवहार आदि जानने के मौके निकालें। हम देश के किसी भाग में चले जायँ, हमें वहाँ की भिन्नता न खटके, हम वहां के निवासियों से भलीभाँति हिल-मिल सकें, और उनके सुख-दुःख में हिस्सा ले सकें। प्राचीन काल में, इस देश में तीर्थ-यात्रा से राष्ट्रीयता के भावों के प्रचार में बड़ी मदद मिलती थी। उसका रूप बदल जाने से अब उससे वैसा फायदा नहीं होता। आजकल आदमी रेल आदि से हजारों मील की यात्रा ज़ल्दी ही तय कर लेते हैं, उन्हें रास्ते की जगहों के निवासियों के जीवन, रहनसहन और विचारों का कुछ अनुभव नहीं होता। तीर्थ-यात्रा से उनकी सिर्फ धार्मिक भावना पूरी हो जाती है, लेकिन राष्ट्रीय दृष्टि से उसका विशेष उपयोग नहीं। तीर्थ-यात्रा से यथेष्ट लाभ तभी हो सकता है, जब वह पैदल हो; और आदमी बीच में जगह-जगह ठहरते हुए जावें।

कुछ वर्ष हुए श्री० देवदास जी गांधी ने मदरास हिन्दी-प्रचार-सभा के द्वारा एक ज्ञान-यात्री-दल की योजना करके सर्वसाधारण के सामने बहुत अच्छा उदाहरण रखा था। पीछे भी समय-समय पर इसका अनुकरण हुआ। जरूरत है कि हरेक प्रान्त में ऐसे दलों का संगठन हो, जो सारे देश में घूमें। वे अलग-अलग प्रान्तों के दो-दो तीन-तीन शहरों के अलावा कई-कई गाँवों में भी ठहरें; लोगों के रहनसहन को ध्यान में

लावें और विचारों का आदान-प्रदान करें। इस दल में ऐसे सज्जन रहें, जो राष्ट्र-भाषा हिन्दी जानते हों, अथवा यात्रा शुरू करने से पहले उसे सीखलें। इनके द्वारा अन्तर्प्रान्तीय सहयोग और राष्ट्रीयता के बढ़ने में अच्छी मदद मिलेगी।

खासकर उत्तर भारत और दक्षिण भारत के निवासियों में विचारों के आदान-प्रदान की बहुत आवश्यकता है। उत्तर भारत के विश्व-विद्यालयों में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि दक्षिण भारत की भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना सुलभ हो। हमारे कुछ योग्य व्यक्ति हर साल नहीं तो दूसरे-तीसरे साल एक-डेढ़ माह मद्रास, मैसूर, कोचीन, त्रावणकोर और हैद्राबाद आदि में बिताने की कोशिश करें। हमारा उद्देश्य अपनी सेवा से दक्षिण भारत को लाभ पहुँचाना और वहाँ की अच्छी-अच्छी बातों का अपने यहाँ प्रचार करना हो। उत्तर और दक्षिण में विचारों या रहनसहन की खाई नहीं रहनी चाहिए; हमें अपने प्रयत्नों से इसे शीघ्र पाट देना है।

—:-:—

# तेरहवाँ परिच्छेद

# आर्थिक समस्या

## (१) भोजन

—:-:—

*'बुभुक्षितः किन्नकरोति पापम्'*

———

*पेट भरने के लिए हम दूसरों के आश्रित रहें, यह न तो आजादी है, और न इज्जत और गैरत की बात।*

—*सत्यवान सिंह*

सन् १९४७ से भारतवर्ष स्वतन्त्र है। जो लोग अब भी अपने जीवन-निर्वाह के लिए यथेष्ट भोजन नहीं पा सकते, उनका यह कहना स्वाभाविक ही है कि 'यह आजादी किस काम की; क्या हम भूखे मरने के लिए ही

आजाद हुए हैं!' फिर राष्ट्रीयता या नागरिकता के भावों की वृद्धि के लिए जिन गुणों के विकास को आवश्यकता है, वे उन लोगों में कैसे आ सकते हैं, जिन्हें दिन-रात अपना पेट भरने की ही चिन्ता रहती है।

**भोजन को समस्या का महत्व**—इससे भोजन की समस्या का महत्व स्पष्ट हो जाता है। इसे और अच्छी तरह समझने के लिए हमें ध्यान में रखना चाहिए कि हम बहुत सा गेहूँ पाकिस्तान से मँगाते हैं, अगर वह हमें गेहूँ न दे तो हमारे सामने कैसा संकट हो जाय फिर, आज संसार में अशान्ति का वातावरण है, जिन देशों से हम अन्न लेते हैं, न-मालूम उनमें से कब कोई युद्ध में ग्रस्त हो जाय और हमें उसके अन्न से वंचित होना पड़े। तब हमें मालूम हो जायगा कि भोजन जैसे जीवन-रक्षक पदार्थ के लिए दूसरों के आश्रित होना कितना संकट मोल लेना होता है। इसके अलावा विदेशी हमें जो अन्न देते हैं, वह अच्छा या बढ़िया होने से रहा। अकसर वे हमें ऐसा घटिया ही अन्न देंगे, जो उनके यहाँ विशेष काम का न हो। सम्भव है, लोभवश वे उनमें कुछ कूड़ा-कंकड़ भी मिलादें। अपनी लाचारी के कारण हमें उसी को, उनके मुँह-माँगे दाम देकर खरीदना पड़ता है। अस्तु, इस अन्न को खाकर हमारे आदमी यह संतोष भले ही करलें कि हम भूखे नहीं रहे, पर इससे उनके स्वास्थ्य पर तो बुरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। प्रायः यह अनुभव हुआ है कि विदेशी अन्न या आटा खाकर यहाँ आदमियों को दस्त होने लगे, या बदहज़मी की शिकायत रहने लगी। इस प्रकार भोजन की समस्या हमारे जीवन तथा स्वास्थ्य की समस्या है।

**भोजन-समस्या का आर्थिक स्वरूप**—भोजन की समस्या का आर्थिक स्वरूप भी चिन्तनीय है। हमें हर साल विदेश से बड़े परिमाण में गेहूँ और चावल आदि खरीदना पड़ता है। इसके मूल्य का भुगतान करने के लिए हमारा करोड़ों रुपया विदेशों को चला जाता है। चावल तो बहुत ही मंहगा पड़ता है। अस्तु,

हमारा धन लगातार विदेशों को जाते रहने के कारण हमारा व्यापार-संतुलन बिगड़ जाता है। फिर, जिस तरह हम अन्न खरीदने के लिए अपना खजाना खाली कर रहे हैं, उससे तो जल्दी ही हमारे दिवालिए या कर्जदार होने की नौबत आने वाली है। इसलिए ज़रूरी है कि हमारी आवश्यकता इसी देश में पैदा होनेवाले अन्न से पूरी हो। अच्छा, हमारे यहाँ अन्न की कमी कब से और क्यों है!

**अन्न की कमी; अँगरेजों के समय में**—भारतवर्ष में अन्न की कमी इस देश के स्वतन्त्र होने के समय से ही नहीं है, इसका दायित्व वर्तमान भारत सरकार पर नहीं है—यह हम समस्या की गुरुता कम करने के लिए नहीं, वरन पाठकों की जानकारी के लिए ही बता रहे हैं। अँगरेजों के शासन-काल में हमें अन्न की कितनी कमी का अनुभव करना पड़ा, और यहाँ समय-समय पर कितने अकाल पड़े और, देश पर कितना ऋण-भार लदा रहा, यह तो एक स्वतन्त्र ही विषय है। ब्यौरेवार बातों में न जाकर हमें यही कहना है कि पराधीनता-काल में खेती की दृष्टि से अच्छे कहे जाने वाले वर्षों में भी बहुत से आदमी यहाँ घटिया दर्जे के अन्नों—ज्वार, बाजरा मकई जौ, चना—आदि का उपयोग करते रहे हैं; तब भी सब लोगों को भरपेट भोजन नहीं मिलता रहा। नई फसल तैयार होने से पहले असंख्य आदमी बेर, महुआ, इमली, गूलर आदि के सुखाए हुए फलों को अथवा इमली आदि के बीजों को पीस कर आटे में मिला कर खाते रहे, या गाजर, शलजम, प्याज, ककड़ी, या आम की गुठली आदि से अपनी भूख मिटाने की चेष्टा करते रहे।

**बर्मा अलग होने और योरपीय महायुद्ध का प्रभाव**—सन् १९३५ के संविधान के अमल में आने से पहले चावल-प्रदेश वाला बर्मा भारतवर्ष का ही अंग था, उस दशा में यहाँ खासकर गेहूँ की कमी होती थी। यह कमी आस्ट्रेलिया और कनाडा से गेहूँ मँगाकर पूरी की जाती थी। उपर्युक्त संविधान से बर्मा भारत से अलग कर दिया गया तो बर्मा-रहित भारतवर्ष में चावल की भी कमी होने लगी। सन् १९३९ से

दूसरा योरपीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध के समय बाहर से अन्न आदि आना बहुत कठिन होता ही है, इसके अलावा भारतवर्ष में उस समय सरकारी प्रबन्ध भी बहुत खराब रहा। इसका नतीजा यह हुआ कि बंगाल में, सन् १९४३ में बहुत भयंकर अकाल पड़ा। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इसमें १५ लाख, और दूसरे हिसाब लगानेवालों के मत से इसमें ३५ लाख आदमी मर गए। जो आदमी इस अकाल में रोगग्रस्त होकर कष्ट पाते रहे, उनकी संख्या रही अलग।

सन् १९४२ में, बर्मा से आनेवाले चावल की कमी को पूरा करने के लिए सरकार द्वारा 'अधिक अन्न उपजाओ'-आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था; इस प्रकार यह आकस्मिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए था। इससे देश की खाद्य सम्बन्धी समस्त आवश्यकता पूरी नहीं हुई। सन् १९४६-४७ में देश के सात प्रमुख खाद्यान्नों—चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, गेहूँ, चना और जौ की पैदावार में अन्दाजन १० लाख टन की वृद्धि हुई, जब कि आवश्यकता कम-से-कम एक करोड़ टन की वृद्धि करने की थी।

**पाकिस्तान बनने का परिणाम**—अगस्त १९४७ से भारत स्वतन्त्र हुआ और यहाँ स्वतन्त्र भारत-सरकार ने काम संभाला। यह आशा थी कि पराधीनता-काल की भोजन-समस्या का अन्त हो जायगा। पर दुर्भाग्य से स्वतन्त्रता के साथ ही देश का विभाजन होने से यहाँ नया आर्थिक प्रहार हुआ। पश्चिमी पाकिस्तान के रूप में देश का जो भाग अलग हुआ, उसमें—पश्चिमी पंजाब और सिंध में—सिंचाई के साधन अच्छे हैं, वहाँ गेहूं और चावल खूब पैदा होते हैं। अब भारत में इन चीजों की और कमी हो गई। निदान, भोजन सम्बन्धी संकट बढ़ गया।

**अन्न की आयात बन्द करने की बात**—अन्न की कमी को दूर करने के लिए सरकार ने विदेशों से अन्न मंगाने का काम किया। जनता की प्राण-रक्षा के लिए तात्कालिक दृष्टि से इस उपाय का सहारा लेना आवश्यक था; इसके सिवा दूसरा कोई चारा ही न था।

तथापि यह समस्या का कोई स्थायी हल न था। आर्थिक दृष्टि से यह कितना हानिकर है, यह ऊपर बताया ही जा चुका है। सरकार भी यह अनुभव करती है। खाद्यान्न मंत्री यह आश्वासन देते रहे हैं कि सन् १९५१ के बाद भारत विदेशों से अन्न नहीं खरीदेगा। प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने भी इस विषय पर भाषण करते हुए कहा कि सरकार सन् १९५१ के अन्त तक विदेशों से अन्न खरीदने की आवश्यकता समाप्त कर देना चाहती है। इससे मालूम होता है कि अभी लगभग डेढ़ वर्ष तक हमें अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी-न-किसी परिमाण में विदेशों के आश्रित रहना होगा। यदि हम डेढ़ वर्ष में अन्न-उत्पादन में १५ प्रतिशत वृद्धि करलें तो फिर हमें विदेशों से अन्न खरीदने की जरूरत न रहे। वैसे अभी तो वृद्धि कुछ कम होने से भी काम चल सकता है, परन्तु डेढ़ वर्ष में देश की आबादी में वृद्धि होगी, उसकी दृष्टि से हमें स्वावलम्बी होने के लिए वर्तमान उपज में १५ फीसदी वृद्धि करने की ज़रूरत है। तभी हम सन् १९५१ के अन्त में दूसरे देशों से अन्न खरीदने की आवश्यकता से मुक्त हो सकते हैं।

**समस्या को हल करने के उपाय**—भोजन की समस्या का हल अकेले सरकार नहीं कर सकती। इसमें जनता के अधिक-से-अधिक सहयोग की आवश्यकता है। यदि हम हृदय से दृढ़ता-पूर्वक उद्योग करें तो १९५१ के अन्त तक भी प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं है; उससे पहले ही देश स्वावलम्बी हो सकता है। समस्या को हल करने के कुछ उपाय निम्नलिखित हैं।

(क) अन्न के उत्पादन में वृद्धि की जाय।

(ख) अपव्यय और विनाश रोका जाय।

(ग) लोभ और अनैतिकता को दूर किया जाय।

(घ) बनों की वृद्धि की जाय।

(च) अन्न की जगह कुछ परिमाण में सस्ते मौसमी और स्थानीय

फलों का उपयोग किया जाय।

श्री नेहरू जी ने कहा है कि शकरकन्द और केले का उपयोग करना अच्छा है। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारत में, अन्नों में सबसे अधिक कमी चावल की है, जो विदेशों से बहुत मंहगा खरीदना पड़ता है। हमें चाहिए कि उसका उपभोग कम करके इसकी आवश्यकता को घटादें।

अन्य बातों के सम्बन्ध में आगे कुछ विशेष लिखा जाता है।

**उत्पादन बढ़ाया जाय**—अन्न की आयात बन्द करने के लिए देश में अन्न की उपज बढ़ाने की बात ऊपर कही गई है। सरकार परती भूमि का उपयोग करने की योजना कर रही है। उसे आशा है कि वह अगले सात साल में साठ लाख परती भूमि को खेती के योग्य बना सकेगी। इसके लिए बड़े-बड़े ट्रैक्टर (यान्त्रिक हल) मंगाए जा रहे हैं, और नई जमीन खोदी जा रही है। परन्तु इसके साथ इस जमीन को सिंचाई, इसमें खेती करनेवाले किसानों तथा हल, बैल और बीज आदि की भी योजना बननी चाहिए। केवल ज़मीन खोदने से काम नहीं चलेगा। अस्तु, इसके अतिरिक्त आवश्यकता है कि वर्तमान खेतों में बढ़िया बीज और खाद की व्यवस्था से उपज बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय। पंचायतों को यह कार्य उत्साह-पूर्वक अपने हाथ में लेना चाहिए। प्रान्तीय सरकारें इसमें प्रोत्साहन दे रही हैं। मिसाल के तौर पर पड़ती जमीनों में खेती करनेवालों से लगान माफ किया जा रहा है और अपने खेतों में अधिक पैदावार करने वालों को नकद इनाम या पदक (तमग़े) देने की व्यवस्था हो रही है। बम्बई में इनाम देनेवाली इकाई व्यक्ति की जगह गाँव माना जाता है। तहसील भर में जो गांव सबसे अधिक पैदा करता है, उसे एक हजार रुपये का इनाम दिया जाता है। उत्तरप्रदेश में इस योजना को कुछ बदले हुए रूप में काम में लाया जा रहा है। अन्य प्रान्तों में भी इस दिशा में प्रयत्न हो रहा है।

बहुत सी फसलें वर्षा पर आश्रित रहती हैं। इससे सिंचाई के साधनों

का महत्व स्पष्ट है। सरकार कुछ नदियों के आगे बांध लगा कर बड़े पैमाने पर सिंचाई की योजनाएँ बना रही हैं। इनसे चार-पांच साल में लाभ होने लगेगा। कुएँ, तालाब, नहरें, और ट्यूब-वेल (नल-कूप) बढ़ाने की ओर ध्यान दिया जा रहा है। हाल में एक बात रेगिस्तान के ग्रामीणों में आशा का संचार करनेवाली हुई है। श्री जीवाराम दुर्लभ जी व्यास जल-अन्वेशन के कारण 'पानी वाला महाराज' कहलाने लगे हैं। आप कानपुर कालिज के जल-विशेषज्ञ प्रोफेसर कैलाशनाथ कौल के सहयोग से राजस्थान-निवासियों के जल-कष्ट निवारण के लिए खूब काम कर रहे हैं। आपने जोधपुर से ५० मील पश्चिम में समदड़ी के पास जमीन के भीतर एक सरोवर का पता लगाया है, जो ४० वर्ग मील क्षेत्र में फैला हुआ कहा जाता है। आप का कथन है कि "मैं एक मील तक जमीन के भीतर देख सकता हूँ और जहां मेरे बताये स्थानों पर कुएँ खोदे गए हैं, वहां-वहां जल के गुणों व तादाद सम्बन्धी भविष्यवाणी सच हुई है। अकेले जामनगर में ही ७०० कुएँ मेरे द्वारा बताये हुए स्थानों पर खोदे गए और वहां के लोगों को सन्तोष हुआ।" ऐसे सज्जनों की प्रतिभा से यथेष्ट लाभ उठाया जाना चाहिए।

देश में कई चीजें इसलिए भी पैदा की जाती हैं कि उन्हें बेच कर अधिक मुनाफा हासिल किया जा सकता है; मिसाल के तौर पर तमाखू, मूंगफली, गन्ना, चाय और कपास आदि। इन चीजों की उत्पत्ति का नियंत्रण किया जाना चाहिए। अधिक से अधिक भूमि का उपयोग अन्न पैदा करने में किया जाय।

**अपव्यय रोका जाय**—देश में जगह-जगह थोड़ा-थोड़ा करके बहुत सा अन्न अनावश्यक रूप से खर्च होता रहता है। बहुत से आदमियों को जूठन डालने की आदत होती है। खासकर जब कुछ आदमी किसी विवाह-शादी या अन्य सम्मिलित भोज के अवसर पर जीमते हैं तो उन्हें अपनी थाली या पत्तल में चीजें जूठी छोड़ने में संकोच नहीं

होता। अन्न को खराब करना हमेशा ही निन्दनीय है, फिर, जब देश में अन्न का संकट विद्यमान हो तब तो किसी नागरिक का जूठन छोड़ना अक्षम्य ही है।

२—अपनी शान, अमीरी या वैभव दिखाने के लिए बहुत से आदमी दावतें देते हैं, और विवाह-शादियों में कानून का उल्लंघन करके भी अधिक आदमियों को निमंत्रित करते हैं; और यदि खाने के पदार्थ खुले बाजार में या नियमानुसार नहीं मिलते तो चोर-बाजार से प्राप्त करते हैं। ऐसे अवसरों पर देश-हितैषी युवकों को पिकेटिंग या सत्याग्रह से काम लेना चाहिए।

३—अनेक बार स्वयं सरकारी कर्मचारी ही दावतों में अधिक आदमियों को निमंत्रित करने के दोषी होते हैं; उच्च अधिकारी जान-बूझकर उस ओर ध्यान नहीं देते। आवश्यकता है कि इस विषय में उच्च अधिकारी अपने कर्तव्य का कठोरता-पूर्वक पालन करें। यदि वे ही अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं रखेंगे और अच्छा उदाहरण उपस्थित न करेंगे तो लोक-हित की रक्षा किस तरह होगी!

४—हमारे भोजन तैयार करने की विधि में सुधार की आवश्यकता है। अवैज्ञानिक भोजन से शरीर को पोषण करनेवाले तत्व कम मिलते हैं, और वह अधिक मात्रा में खाना पड़ता है। मिसाल के तौर पर हाथ का कुटा चावल यदि २। छटांक चाहिए तो मिल का पालिश किया हुआ चावल लगभग पाव भर लगता है। फिर, बहुत से आदमी चावल पकाते समय उसका मांड उतार देते हैं, इससे उसके पौष्टिक तत्व बहुत कम रह जाते हैं।

आटे की बात लीजिए। शहरों के अधिकांश, और कस्बों तथा गांवों के भी कुछ, आदमी मिल का पिसा आटा खाते हैं। मशीन की चक्की की गरमी से आटे के जीवन-तत्व कम हो जाते हैं, और आटा महीन हो जाने से पचने में भारी, तथा स्वास्थ्य के लिए हानिकर, हो जाता है। अतः आटा हाथ-चक्की का पिसा हुआ इस्तेमाल करना

चाहिए, तथा उसमें से बहुत छानस या चोकर नहीं निकालना चाहिए, जिससे वह जल्दी हजम हो सके और शरीर को उसके सब पोषक तत्वों का लाभ मिले। बेसन या मैदा बहुत हानिकर वस्तु है।

यही बात दालों के विषय में है। आजकल धोई हुई दाल का प्रचार अधिक हो गया है। छिलके वाली दाल को, जिसे 'काली' दाल कहते हैं, आदमी कम पसन्द करते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से उसका सेवन करना अधिक उपयोगी है।

५—अनेक घरों में आदमियों की बेपरवाही से बहुत सा अन्न चूहे खा जाते हैं, या सड़ जाता है। यदि इसका हिसाब लगाया जाय तो साल भर में इसका काफी बड़ा परिमाण हो जाता है। जरा सावधान रहने से यह सब बरबादी रोकी जा सकती है।

६ सरकारी कर्मचारियों की लापरवाही से भी अन्न की बहुत बरबादी होती है। अनेक बार गोदामों में रखा हुआ हजारों मन अन्न सड़ जाने या उसके घुन लग जाने की बात प्रगट हुई है। बहुधा रेल के प्लेटफार्म पर अनाज के बोरे उतारे जाने पर उन्हें उपयुक्त स्थान में रखने की व्यवस्था नहीं होती, इससे अनाज बारिश में भीगा करता है। जो कर्मचारी इस बदइन्तजामी के दोषी हों, उन्हें यथेष्ट दंड दिया जाना चाहिए; और, आगे ऐसी घटना न होने पावे, इसका ठीक प्रबन्ध होना चाहिए।

**शहर वालों का विशेष कर्तव्य**—उपर्युक्त बातें तो सभी के लिए हैं। पर शहर वाले अधिक शिक्षित होते हैं, और सभ्य माने जाते हैं। उनका उत्तरदायित्व अधिक है। यहाँ हम कुछ ऐसी बातों का उल्लेख करते हैं, जो उनके लिए खास तौर से विचारणीय है। अन्न पैदा करने का काम मुख्यतया गांव वालों का है, परन्तु जहां तक शहरी लोग इसमें सहायक हो सकें, उन्हें अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए। जहाँ-कहीं भी खाली जमीन हो, वहाँ शाक तरकारी, फलादि खाने की चीजें पैदा की जानी चाहिए। बंगलों, कोठियों और बाग-

बगीचे वाले इस ओर यथेष्ट ध्यान दें।

प्रायः शहर वाले गेहूँ और चावल ही अधिक खाते हैं। वे दूसरे घटिया अन्नों को गांव वालों का खाना समझते हैं। यह अनुचित है। गांव वालों से केवल मौखिक सहानुभूति दिखाना ठीक नहीं। हमें खान-पान में यथा-सम्भव समता की भावना चाहिए और चना, ज्वार, बाजरा, मकई आदि भी खाने का अभ्यास डालना चाहिए।

प्रायः शहरों में दफ्तरों में काम करने वाले बाबू लोग होटलों में अथवा यार-दोस्तों के साथ, अनावश्यक होते हुए भी कुछ मिठाई, पकवान या नमकीन चटपटी चीजें खाते-पीते हैं। रेलवे स्टेशनों पर, सिनेमा या नाटक घरों में, मेले-तमाशों में बहुत आदमी केवल जी बहलाने के लिए ही कुछ खाने के अभ्यस्त होते हैं। यह त्याज्य है।

प्रत्येक शहर की म्युनिसपेलटी (नगर पालिका) का कर्त्तव्य है कि बस्ती के सारे कूड़े-करकट को सावधानी से इकट्ठा करके उसका 'कम्पोस्ट' (खाद) बनावे, और मलमूत्र का भी ठीक उपयोग करके उससे आसपास की भूमि को उपजाऊ बनावे। इस प्रकार वह एक ओर भोजन-समस्या को हल करने में सहायक होगी, और दूसरी ओर नगर का स्वास्थ्य सुधारने में प्रगति करेगी।

**लोभ और अनैतिकता को दूर किया जाय**—भोजन की समस्या का एक मुख्य कारण लोगों का अनुचित और अपरिमित स्वार्थ है। कुछ आदमियों के पास अन्न की कोठियाँ या खत्तियाँ भरी रहती हैं। पर वे उसे अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाने के लिए छिपा रखते हैं, धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा अन्न निकाल कर बेचते हैं। अगर जितना अन्न देश में पैदा होता है, वह सब का सब बाजार में आ जाय तो भोजन-समस्या की भयंकरता बहुत-कुछ घट सकती है। लेकिन हमारे मालगुजार, सेठ, साहूकार और व्यापारी तो अपने नागरिक बन्धुओं के जीवन-मरण की परवाह न कर अधिकाधिक

धनवान बनने की फिक्र में रहते हैं। राष्ट्र-हित चाहता है कि यह धन-तृष्णा, यह मुनाफेखोरी और अनैतिकता दूर हो।

संसार में इस समय अर्थ-पिपासा इतनी बढ़ी हुई है कि अमरीका आदि में अनेक व्यापारी अपने अन्न आदि की कीमत ऊँची रखने के लिए फसल के कुछ भाग को जला डालते हैं, या नदी में बहा देते हैं; वे निर्धन बन्धुओं के हितार्थ अपने स्वार्थ का परित्याग नहीं करते। संयुक्त राष्ट्र-संघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को चाहिए कि ऐसी बातों को नियम-विरुद्ध ठहरावें, और इन्हें हटाने के लिए जोरदार आन्दोलन करें। यदि सब देशों के नागरिक इस दिशा में समुचित कर्त्तव्यों का पालन करें और अपने आप को एक विशाल विश्व-परिवार के सदस्य समझें तो संसार की अन्न-समस्या सुलझने में कितनी सुविधा हो जाय! भारतवासियों को इस ओर आगे बढ़ने के लिए चोरबाजारी, मुनाफेखोरी और शोषण आदि का अन्त करना चाहिए।

**वनों को बढ़ाया जाय**—जैसा कि भारत के खाद्य मंत्री श्री कन्हैयालाल मानिकलाल मुन्शी ने कहा है, वनों की वृद्धि करना हमारे देश के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। युद्ध के समय आवश्यक इमारती लकड़ी उपलब्ध करने के लिए बड़े-बड़े वन काट लिए गये थे तथा इसके उपरांत बहुत से जमींदारों और राजाओं ने यह सोचकर अपने जङ्गल कटवा डाले थे कि भविष्य में वे उनके अधीन अथवा नियंत्रण में नहीं रहेंगे। वृक्ष काट देने से केवल वर्षा में ही कमी नहीं होती, वरन् कृषकों के लिए ईंधन की भी कमी हो जाती है, जो उसके परिणाम-स्वरूप बाध्य होकर गोबर को, जो एक बहुमूल्य खाद है, ईंधन के रूप में जलाते हैं। अतएव, देश के सब भागों में हजारों लाखों की संख्या में वृक्ष लगाने तथा उनकी रक्षा करने की बहुत आवश्यकता है। प्रति वर्ष हमें एक ऐसा सप्ताह मनाना चाहिए, जिसमें हम मुख्यतः वृक्ष लगाने का ही कार्य करें। इस सप्ताह में सब सरकारी

संस्थाओं, कालिजों तथा पाठशालाओं के लोगों को ग्रामों अथवा अन्य उपयुक्त स्थानों में वृक्षारोपण के कार्य में भाग लेना चाहिए।

**विशेष वक्तव्य**—भोजन की समस्या भारत की इस समय की विकट समस्या है। पर जनता और सरकार के सम्मिलित प्रयत्न से इस का हल होना विशेष कठिन नहीं। प्रत्येक व्यक्ति समाज-सेवा के भाव से प्रेरित हो, और जहाँ तक भी उसकी पहुँच हो, शुद्ध हृदय से, पूरी लगन से इसमें जुट जावें। हम न केवल अपने लिए अनाज की कमी पूरी करें, वरन् संसार के अन्य कम उपजाऊ प्रदेशों की जनता का भी संकट दूर करने में योग दें।

---

# चौदहवाँ परिच्छेद

# आर्थिक समस्या

## (२) कपड़ा

---

कैसी विधि-विडम्बना है कि जो भारत संसार के अन्य देशों के निवासियों को वस्त्र देने और बहुत बढ़िया वस्त्र बनाने के लिए संसार भर में प्रसिद्ध था, वहाँ की समस्याओं में हमें कपड़े को भी शामिल करना पड़ता है। अवश्य ही यह समस्या हमारे पराधीनता-काल की, अँगरेजों के शासन-काल की है। पर इससे क्या! अब हम स्वतंत्र हैं, और हमारा राष्ट्रीय अभिमान चाहता है कि कपड़े जैसी प्रारम्भिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमें किसी प्रकार के अभाव का अनुभव न हो।

**भारतीयों के वस्त्र की दशा**—भारतवर्ष में विशेषतया चार प्रकार का कपड़ा इस्तेमाल होता है (क) विदेशी, (ख) भारतीय मिलों के सूत का, मिलों में ही बुना हुआ, (ग) भारतीय मिलों के सूत का, जुलाहों द्वारा हाथ से बुना हुआ, और (घ) हाथ से कते सूत का, हाथ

से बुना हुआ। जैसा हमने अपने 'भारतीय अर्थशास्त्र' में बताया है, यह सब मिलाकर भी यहाँ बहुत से आदमियों को आवश्यकतानुसार कपड़ा नहीं मिल पाता। यह ठीक है कि विवाह-शादी अथवा मेले-तमाशों में कुछ आदमी तरह-तरह के चटकीले भड़कीले और कुछ बढ़िया वस्त्र पहनकर निकलते हैं, एवं सरकारी नौकर अथवा उच्च श्रेणी के कुछ आदमी कपड़ों में फैशन का बहुत ध्यान रखते हैं। परन्तु वास्तविक दशा को जानने के वास्ते तो हमें साधारण आदमियों को साधारण परिस्थिति में देखना चाहिए। हमारा ग्रामीण भाई, हमारा किसान और खेतिहर मजदूर क्या पहनता है? गर्मियों के दिनों में वह प्रायः 'अर्ध-नग्न' रहता है। एक छोटी-सी, घुटनों से भी ऊपर तक रहने-वाली धोती, और सिर पर एक मामूली पगड़ी होती है। उसके बच्चे बहुधा नंगे फिरा करते हैं। बड़ी-बड़ी लड़कियाँ भी बहुधा लंगोटी लगाकर अपनी लज्जा निवारण करती हैं। जाड़े के दिनों में बहुत से किसानों या कृषि-श्रमजीवियों के बदन पर केवल एक सूती मिर्जई या अंगरखा होता है, जिसके बदलने का अवसर प्रायः उसके फटजाने पर ही आता है। ऊनी वस्त्रों का तो अभाव ही रहता है। रात्रि में ओढ़ने के लिए एक मामूली रजाई, और बिछाने को पयाल या फूस मिल जाय तो गनीमत है। बहुत-से आदमियों को खेतों पर पहरा देते समय एक फटी-पुरानी चादर में रात काटनी पड़ती है।

**कपास की स्थिति**—कपड़े की कमी पर विचार करते हुए हमें कपास की स्थिति समझ लेनी चाहिए। कपास से रुई बनती है, और रुई से कपड़ा तैयार होता है। आयात-निर्यात प्रायः रुई का ही होता है। देश के विभाजन से पहले कपास यहाँ काफ़ी पैदा होती थी, तथापि हम कुछ रुई बाहर से मँगाते रहे हैं। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष में जो कपास पैदा होती है, उसमें से अधिकांश की रुई का रेशा छोटा होता है। कुछ वर्षों से यहाँ लम्बे रेशे की कपास की उत्पत्ति बढ़ाई जा रही है, पर वह काफी नहीं होती। इसलिए विदेशों से लम्बे रेशे की रुई मँगाई

जाती रही है।

अगस्त १९४७ से, भारतवर्ष से पश्चिमी पंजाब, सिंध और पूर्वी बंगाल के निकल जाने से यहाँ रूई सम्बन्ध स्थिति अधिक शोचनीय हो गई है। इसके सुधार के लिए आवश्यक है कि यह देश स्वयं बढ़िया और अधिक कपास पैदा करे। पाकिस्तान बन जाने से हमारे यहाँ उसकी कमी न रहनी चाहिए। इस समय हमारी सूती मिलों में रुई की वार्षिक खपत ४५ लाख गांठों की है। इस वर्ष (सन् १९५०) यहाँ २६ से २८ लाख गाठें तक ही पैदा होने की सम्भावना है। अगले वर्ष ६ लाख गाठें अधिक होने का अनुमान है। तो भी लगभग १० लाख गांठों की कमी रह जाती है। इस से स्पष्ट है कि कपास की खेती और उसकी उत्पत्ति बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि इसका असर देश के अन्न-उत्पादन पर न पड़े अर्थात् अन्न की खेती के क्षेत्र को कम कर के कपास की खेती का क्षेत्र बढ़ाना उचित नहीं है; कारण, जैसा पहले लिखा जा चुका है, हमारे यहाँ अन्न यथेष्ट पैदा नही होता, और हमें उसकी भी पैदावार बढ़ानी है। इस प्रकार कपास की खेतो ऐसी भूमि में ही बढ़ाई जानी चाहिए जहाँ अन्न पैदा न किया जाता हो।

**सूत की बात**—भारत में छोटे रेशे वाली रुई काफी मात्रा में होती है। तो भी यहाँ प्रति वर्ष करोड़ों रुपए का सूत विदेशों से मंगाया जाता है; कारण यद्यपि यहाँ की मिलों ने महीन सूत कातने में, पिछले वर्षों में, कुछ उन्नति की है, वे अभी तक यहाँ के महीन सूत की माँग पूरी नहीं कर सकतीं। अखिल भारतीय चरखा-संघ के उद्योग से अब यहाँ हाथ से महीन सूत भी काता जाने लगा है, और उस सूत के कपड़े भी बुने जाने लगे हैं। परन्तु अभी इस दिशा में और अधिक उद्योग होते रहने की आवश्यकता है।

**वस्त्र में स्वावलम्बन**—वस्त्र में स्वावलम्बी होने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी रुई से स्वयं ही अपने लिए काफी कपड़ा

तैयार करें। यों तो मिलों में बननेवाले माल की भी वृद्धि हो सकती है, पर उसमें कई जटिलताएँ हैं। मशीनों के लिए विदेशों के आश्रित रहना पड़ता है, पूंजीपतियों द्वारा उत्पादन होने से धन-वितरण की विषमता का सवाल आता है, पूंजी और मजदूरी के संघर्ष, तथा मजदूरों की बेकारी आदि की समस्या होती है। इसलिए यथा-सम्भव मिल के माल को प्रोत्साहन न देकर हाथ से बुने हुए वस्त्र का परिमाण बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

यदि किसान और श्रमजीवी अपने अवकाश के समय (जो बहुत काफी होता है) कपास ओटलें, और रुई का सूत कातकर कपड़ा बुनवालें तो वह इन्हें मुफ्त-सरीखा पड़ सकता है। इसमें स्त्रियों के श्रम का भी बहुत अच्छा उपयोग हो सकता है। किसानों के अतिरिक्त, गाँवों तथा नगरों के अन्य आदमियों को भी चाहिए कि यथा-सम्भव खद्दर का ही इस्तेमाल करें, जिससे कपास पैदा करनेवाले, ओटनेवाले, सूत कातनेवाले और कपड़ा बुननेवाले इन सब गरीब भाई-बहिनों को रोज़गार मिले। अस्तु, यदि सर्वसाधारण के लिए कपड़े की समस्या का कुछ हल हो सकता है तो विशेष आशा खद्दर के धन्धे की उन्नति से ही हो सकती है। गतवर्षों में चरखा-संघ ने खादी की उत्पत्ति बढ़ाने का उद्योग किया है। राष्ट्रीय आन्दोलन से, अन्य विदेशी वस्तुओं में कपड़े के आयात में भी कुछ कमी हुई है, तथापि अभी वह विदेशों से काफी परिमाण में मँगाया जाता है। इसे बन्द करने, और भारतवर्ष को अपने वस्त्र-व्यवसाय में स्वावलम्बी बनाने में प्रत्येक देश-प्रेमी को भाग लेना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि हम छोटे रेशेवाली रुई के कपड़े का अधिक उपयोग करें, चाहे वह कुछ मोटा ही क्यों न हो।

**गरम कपड़ों का सवाल**—ऊपर सूती कपड़ों की बात कही गई है। भारतवर्ष के अधिकतर भागों में साल के कई महीने गरमी पड़ती है, उनमें कपड़ों की बहुत आवश्यकता नहीं होती। तथापि कुछ

हिस्सों में बहुत सर्दी होती है, और जो हिस्से गरम हैं उनमें भी साल में कुछ महीने सर्दी के होते हैं। इस प्रकार यहाँ गरम कपड़ों की भी बहुत जरूरत रहती है; और सारी जरूरत यहाँ ही पूरी न होने के कारण, ऊनी कपड़े खासे परिमाण में बाहर से मँगाने पड़ते हैं यह परावलम्बन बहुत अपमानजनक है यहां ऊन काफी होती है; उद्योग करने पर वह और बढ़िया हो सकती है। आवश्यकता है कि ऊनी वस्त्र-व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया जाय। लोक-हित के लिए यह भी आवश्यक है कि आदमी कपड़े का इस्तेमाल दिखावें या शौकीनी के लिए न करें। जब-कि हमारे अनेक भाइयो के पास एक-एक जोड़ी भी गरम कपड़े नही होते, हमें तरह-तरह के कई-कई जोड़ी कपड़े रखना अशोभनीय है। अपरिग्रह की भावना हमारे मानवी गुणों के विकास में तथा भारतीय राष्ट्र को कपड़े की दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने में सहायक होगी।

**विशेष वक्तव्य**—कभी-कभी ऐसा होता है कि एक ओर तो जनता कपड़े की कमी की शिकायत करती है, दूसरी ओर मिलों में भारी परिमाण में माल जमा होता है। मिसाल के तौर पर गत वर्ष बम्बई की मिलों में १ लाख २८ हजार गाँठें पड़ी हुई थीं। अहमदाबाद की ३६ मिलों ने सरकार को सूचित किया था कि यदि स्थिति में कोई सुधार नही हुआ तो वे इस महीने के बाद अपना काम बन्द कर देंगी। सवाल यह है कि देश में कपड़े की इतनी तंगी होते हुए इन मिलों में इतना माल जमा होने की नौबत क्यों आती है। यह स्पष्ट है कि मिल-मालिक अनुचित लाभ उठाने की फिक्र में अपना माल रोके रखते हैं। इसमें सुधार होने की आवश्यकता है। तथापि नागरिकों को कपड़े के विषय में स्वावलम्बी होने का प्रबल प्रयत्न करना चाहिए। भारत जैसे साधन-सम्पन्न देश में कपड़े की समस्या होना—चाहे वह कितने ही कम परिमाण में हो—हम सबके लिए लज्जाजनक है। हमें इसे शीघ्र ही हल कर लेना है।

—:०:—

## पन्द्रहवाँ परिच्छेद

# आर्थिक समस्या

## (३) मकान

---

*"शहरों की खासकर मजदूर बस्तियाँ वे गंदे रोगग्रस्त स्थान हैं, जहां मानवता सड़ती है।"*

---

*देहात के अंधेरे और उजाड़ घर उनमें रहनेवाले लोगों के जीवन की एक तसवीर है। उनमें न हवा है, न प्रकाश है, न किसी तरह की सुन्दरता का ख्याल है।* —*शान्ता वेरुलकर*

---

**घर-हीन नागरिकों की कल्पना दुःखदायी है—** भारतीय राष्ट्र की मकानों सम्बन्धी समस्या का विचार करते समय पहले हमारा ध्यान उन भाइयों और बहिनों की ओर जाता है, जिनका अपना कहा जा सकने वाला कोई मकान या स्थान ही नहीं। प्रत्येक नागरिक से यह आशा की जाती है कि वह अपने राज्य के प्रति भक्ति-भाव रखे, और उसका अभिमान करे। पर जरा सोचने की बात है कि उस व्यक्ति की क्या मनोदशा होगी, जिसे उसके राज्य में रहने और गुजर करने लायक ठौर भी प्राप्त नहीं है।

हम साधुओं या फकीरों की बात नहीं कर रहे हैं, जिनका प्रायः कोई परिवार नहीं होता। हम ऐसे लोगों की भी बात नहीं कह रहे हैं, जिनका अपना मकान तो है, पर जो नौकर या व्यापार आदि के

कारण अपने निवास-स्थान से दूर रहते हैं, और अकसर एक जगह से दूसरी जगह, जहां उन्हें अधिक आमदनी हो, जाते-आते रहते हैं। ये जहाँ रहते हैं, मकान किराए पर ले लेते हैं, और जब चाहा तब उसे छोड़ देते हैं। इन्हें संतोष रहता है कि हमारा एक अपना मकान है, जरूरत होने पर उसका उपयोग कर सकते हैं। कुछ आदमी ऐसे भी होते हैं, जो अपना मकान रखना और उसकी देखभाल और मरम्मत कराना बड़ा झंझट समझते हैं, इसलिए उन्हें यथा-सम्भव किराए के ही मकान में रहना अच्छा लगता है। ऐसे आदमियों की बात छोड़िए। हमारे देश में अनेक व्यक्ति ऐसे हैं, जिनका न तो अपना कोई मकान ही है, न मकान रखने की आर्थिक स्थिति ही है। वे किसी की मेहरबानी से उसके मकान में रहते हैं, या उसकी भूमि पर जैसा-तैसा 'घर' बना कर रहते हैं। जिस दिन भी उसकी मेहरबानी न रहेगी, इन्हें उसका मकान या स्थान खाली करना पड़ेगा, और खुले आकाश के नीचे, अपने लिए ठौर ढूंढनी पड़ेगी। ऐसे आदमी देश में कितने हैं, इसका हमारे सामने कोई हिसाब नहीं है, शायद सरकार ने ऐसा कोई हिसाब तैयार ही नहीं किया है। तथापि ऐसे व्यक्तियों की संख्या देश में काफी बड़ी होने में कोई संदेह नहीं। राज्य की भूमि में कुछ भी हिस्सा न रखनेवाले इन लोगों की दशा बड़ी करुणाजनक है। हमारा निश्चित मत है कि राज्य के प्रत्येक व्यक्ति के पास भोजन-वस्त्र के अतिरिक्त मकान प्राप्त करने का भी साधन होना चाहिए।

**भारतवासियों के मकान**—अब हम इस बात का विचार करें कि हमारे देश में जो घर हैं, वे कैसे और कितने हैं। हिसाब से मालूम हुआ है कि यहाँ औसत से प्रति पाँच मनुष्यों पीछे एक घर है। शहरों तथा देहातों में यह औसत लगभग समान ही है। पर इस औसत से पाठकों को मकानों की समस्या का यथेष्ट ज्ञान नहीं होगा; कारण, मकान बहुत बड़ा, विशाल, हवादार और सुन्दर भी हो सकता है, और ऐसा भी हो सकता है जिसे मकान कहना भ्रमात्मक है। अस्तु,

हमें मकानों की स्थिति का विचार करना चाहिए।

**शहरों के मकान**—शहरों में बड़े-बड़े बाजारों की इमारतों, तथा थोड़े से सौभाग्यशाली व्यक्तियों के आलीशान मकानों का विचार करके वस्तु-स्थिति का गलत अनुमान न कीजिए। सर्वसाधारण को मकान की कितनी असुविधा है, यह सब जानते हैं। मकानों की संख्या कम, उनका किराया बहुत अधिक, और ज्यादातर आदमियों की आय बहुत मामूली! इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से आदमी तंग, और अंधकार वाली गलियों के छोटे-छोटे मकानों में रहते हैं; एक कमरे में कई-कई आदमियों को रहना पड़ता है, अथवा एक से अधिक परिवारों को गुजर करनी पड़ती है। बड़े-बड़े शहरों में मिलों और कारखानों ने श्रमियों के लिए मकानों की अलग ही समस्या उपस्थित कर रखी है। अनेक औद्योगिक क्षेत्रों में एक आदमी को रहने के लिए औसतन २८ वर्ग फुट जगह मिलती है, जबकि स्वास्थ्य की दृष्टि से उसे १०० वर्ग फुट मिलनी चाहिए। पाकिस्तान से आए हुए शरणार्थियों के कारण कितने ही शहरों में इस समस्या ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया है।

**देहातों के मकान**—भारतवर्ष अधिकांश में देहातों का ही देश है। यहाँ कुछ जमींदारों या महाजनों के घर कुछ बड़े, दुमंजिले और पक्के हैं; मध्य श्रेणी के आदमी भी क्रमशः पक्के मकान बनवा रहे हैं। यह होते हुए भी सर्वसाधारण के मकानों की क्या दशा है! बहुत से मकान कच्चे हैं, जिनकी प्रति वर्ष बरसात से पहले मरम्मत करने की जरूरत होती है, अन्यथा वे टपकते हैं, और दो-तीन साल बाद तो गिरने ही लगते हैं। अधिकांश घरों में रसोई के लिए अलग कोठरी नहीं होती; पशु भी वहाँ ही रहते हैं। इससे होनेवाली असुविधा एवं स्वास्थ्य-हानि स्पष्ट है। हमारे अनेक भाई तो फूस की झोपड़ियों में ही जैसे-तैसे गुजर करते हैं, जहाँ धूप, सर्दी और वर्षा सभी सहनी पड़ती है। इन झोपड़ियों के भीतर जाते समय तथा इनसे निकलते हुए

आदमियों को सिर नवाना और कमर झुकानी पड़ती है; दुर्भाग्य से इनमें रहनेवालों का सिर समाज में सदैव ही नीचा रहा है।

**शहरों में सुधार-कार्य**—कुछ समय से मकानों की समस्या हल करने के विविध प्रयत्न हो रहे हैं। कहीं-कही मिलों के पास ही मजदूरों की बस्तियाँ बन रही हैं। परन्तु अधिकांश स्थानों में मिलें नगरों के बीच में हैं, उनके पास जगह न होने के कारण वे मज़दूरों के लिए मकान नहीं बना पा रही हैं। प्रान्तीय सरकारें खासकर शरणार्थियों के लिए मकान बनाने का काम हाथ में ले रही हैं। कुछ शहरों की म्युनिसपेलटियाँ अपने क्षेत्र में नए मकान बना रही हैं, अथवा उपनगरों का निर्माण कर रही हैं। कितने ही स्थानों में सहकारी गृह-निर्माण समितियाँ काम कर रही हैं। यह सब होते हुए भी अभी विशेष प्रगति नहीं हुई है। इसका एक मुख्य कारण, काफी इमारती सामान (ईंट, लकड़ी, लोहा, सीमेंट आदि) का न मिलना है। इस ओर ध्यान दिया जा रहा है।

**औद्योगिक मजदूरों के लिए दस लाख घरों की योजना**—गतवर्ष केन्द्रीय (भारत) सरकार ने औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने-वालों के लिए अगले दस साल में दस लाख मकान तैयार कराने की योजना बनाई थी। इसमें कम-से-कम ३०० करोड़ रुपये खर्च होने का अनुमान है। बननेवाले मकानों में से सवा सात लाख तो कल-कारखानों में काम करनेवालों के लिए होंगे, लगभग दो लाख मकान चाय और कहवा आदि की काश्त का काम करनेवालों के लिए, और पौन लाख बन्दरगाहों आदि में काम करनेवालों के लिए। मालिक लोग इन क्वार्टरों का जो किराया देंगे, वह कुल लागत का तीन फीसदी से अधिक न होगा। ये मकान मजदूरों को किराए पर दिए जायंगे। मकानों की कमी के कारण हरेक मकान में दो-दो कमाने वाले व्यक्ति रखने का विचार है। उनकी आमदनी का दस फीसदी किराए के रूप में लिया जायगा, इसमें यह विचार रखा जायगा कि हर साल लागत का ढाई

फीसदी तक प्राप्त हो जाय।

**मकानों का आकार-प्रकार आदि**—आर्थिक कठिनाइयों और इमारती सामान मिलने की असुविधाओं के कारण उपर्युक्त योजना के अनुसार बनाए जाने वाले मकान बहुत बढ़िया ढंग के नहीं होंगे। तथापि भारतीय परिस्थिति के अनुसार काफी अच्छे होंगे। प्रत्येक मकान में दो कमरे, एक रसोई, एक अन्न और इंधन के लिए भंडार-घर, एक नहाने का कमरा, एक टट्टीघर, एक बरामदा होगा। रसोई में बर्तन रखने के लिए अलमारियाँ होंगी, और मुख्य कमरे की दीवारों में अलमारियां बनी हुई होंगी। इस प्रकार वर्तमान स्थिति में बहुत-कुछ सुधार हो जायगा।

नए मकानों के साथ मजदूरों की अन्य असुविधाओं तथा आवश्यकताओं का भी ध्यान रखा जायगा। स्कूल, बाजार या मंडी, पार्क (उद्यान), खेल का मैदान, अस्पताल, रेडियो, पुस्तकालय, वाचनालय आदि की व्यवस्था प्रत्येक क्षेत्र के मजदूर-समूह के लिए की जायगी। इस प्रकार मजदूरों को यह अनुभव कराया जायगा कि राष्ट्र के विकास-साधनों में उनका भी भाग है। इससे उन्हें उत्पादन-वृद्धि के लिए प्रोत्साहन मिलेगा और जनता के विविध अभावों की पूर्ति होगी।

**अन्य मजदूरों के मकानों का विचार**—कोयले की खानों में काम करनेवाले मजदूरों के लिए पचास हजार मकान बनाने की एक अलग योजना है। उसके अनुसार नए मकान बन रहे हैं। रेल विभाग का अपना निर्माण सम्बन्धी अलग कार्यक्रम है। फिर, मजदूरों के एक क्षेत्र में सुधार-कार्य होने पर उसका अन्य क्षेत्रों पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। सरकार द्वारा मजदूरों के लिए मकान बनाने की जो योजना हाथ में ली गई है, वह प्रशंसनीय है। आवश्यकता है कि उसके अनुसार यथेष्ट कार्य हो, उसमें कोई शिथिलता न हो।

**गाँवों में मकानों की पूर्ति कब होगी?**——यह ध्यान में

रखना आवश्यक है कि इससे ही अभीष्ट सिद्ध न होगा, और भी बहुत काम करना है। देहातों के करोड़ों आदमियों खासकर कृषि-श्रमजीवियों या खेत-मजदूरों के मकानों की समस्या तो अभी गम्भीरता-पूर्वक सोची ही नहीं गई है। काम की विशालता और जटिलता का विचार कर बहुतों का सिर चकराने लगता है। पर भारत का अर्थ केवल उसका नागरिक क्षेत्र ही नहीं है। जब तक हमारी नए ढंग के मकान बनाने की योजनाएँ देहातों में अमल में नहीं आतीं, हमारे देश-सुधार और राष्ट्रीय भावना में विशेष सार नहीं है।

केन्द्रीय श्रम-मंत्री ने औद्योगिक क्षेत्रों के मजदूरों के लिए मकानों की पूर्वोक्त योजना की घोषणा करते हुए यह सूचित किया था कि खेत-मजदूरों की स्थिति की जाँच का कार्य आरम्भ हो गया है, और जाँच की रिपोर्ट आते ही उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न किया जायगा। पिछले वर्षों में विदेशी सरकार का रवैया देखकर भारतीयों का जांच-कमेटियों, रिपोर्टों, और योजनाओं पर विश्वास हट-सा गया है। राष्ट्रीय सरकार को अपने कार्यों में तत्परता और प्रगतिशीलता दिखाकर उस विश्वास को पुनः प्राप्त करना है। अस्तु, देखना है कि गाँवों में मकानों की पूर्ति कब होगी?

**नागरिकों में सर्वोदय की भावना**—हमने पहले कहा है कि शहरों में कुछ आदमियों के पास काफी बड़े-बड़े मकान हैं। किसी-किसी आदमी के पास कई-कई मकान हैं। गाँवों के भी कुछ आदमियों के पास बड़ी-बड़ी हवेलियाँ हैं, अथवा खाली जमीनें पड़ी हैं, जो उनके खास उपयोग में नहीं आतीं। इन लोगों को चाहिए कि जरा अपरिग्रह की भावना रखें। अपने दीन और जरूरतमन्द भाइयों के प्रति सहानुभूति का क्रियात्मक परिचय दें। अपने मकानों का केवल अपने आपको या अपने परिवार को ही अधिकारी न मानकर अपने वैभव में राष्ट्र के अन्य नागरिकों को हिस्सेदार बनावें, अपने मकानों और ज़मीनों का अधिक-से-अधिक भाग सर्वसाधारण के उपयोग में आने दें। वे यह

कार्य स्वेच्छापूर्वक करें, और उस समय की प्रतीक्षा न करें, जब क्रान्ति की प्रबल लहर उन्हें यह कार्य करने के लिए बाध्य करेगी। स्वेच्छापूर्वक त्याग से उन्हें यदि कुछ असुविधा भी हो तो बदले में वे काफी मानसिक सुख प्राप्त कर सकेंगे। अस्तु, यदि जनता और सरकार सच्ची लगन से काम करे तो कुछ समय में सभी लोगों के लिए घर बन जायँ —ऐसे घर जो भले आदमियों के रहने लायक हों; हमारी मकानों की समस्या हल हो जाय और हमारा राष्ट्र वास्तव में कुछ प्रगतिशील समझा जाय।

---

## सोलहवाँ परिच्छेद
# भारतीय संघ-निर्माण और नागरिक

---

*आज (१५ अगस्त १९४७) से हम कानूनी तरीके से अपने भाग्य के विधाता बने हैं, और इस देश को शान्त, सुखी और समुन्नत बनाने का सारा भार हमारे ऊपर आ गया है।*

*—डा० राजेन्द्रप्रसाद*

*आज से विदेशी शासन का लेश मात्र भी यहाँ कहीं नहीं रहेगा। अपने भविष्य का निर्माण करना अब आपमें से हरेक के हाथ में है।*

*—गोविन्दवल्लभ पंत*

**भारतीय स्वाधीनता के प्रयत्न**—भारतीय संघ की स्थापना १५ अगस्त १९४७ को हुई। उस दिन से, यहाँ से ब्रिटिश सत्ता उठ गई। इसके लिए भारतवासी चिरकाल से प्रयत्नशील थे। इसी के लिए सन् १८५७ का युद्ध लड़ा गया था, जिसमें असफल होने का दंड इन्हें बहुत बुरी तरह भोगना पड़ा। इसी के लिए अनेक आतंकवादी या क्रान्तिकारी हँसते-हँसते फांसी के तख्ते पर चढ़े थे। इसी के लिए सन् १८८५ से कांग्रेस लगातार कोशिश करती रही, जिसका कुछ जिक्र

दूसरे परिच्छेद में किया जा चुका है। इसी के लिए म० गाँधी के नेतृत्व में सत्याग्रह और असहयोग का उपयोग किया गया, जो अपने ढंग के अनूठे और बेमिसाल अस्त्र रहे हैं। इसी के लिए ३१ दिसम्बर १९२९ की रात को ठीक बारह बजे लाहौर में रावी तट पर पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया गया था। इसी के लिए ८ अगस्त १९४२ में 'अंगरेजो ! भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया गया था। इसी के लिए नेता जी सुभाष बोस और आजाद हिन्द फौज ने ब्रिटिश सेनाओं से गज़ब का मोर्चा लिया था। यह तो उदाहरण मात्र हैं। न मालूम, स्वाधीनता के लिए भारतीयों ने कितने संघर्ष मोल लिए और कितनी कुर्बानियाँ की। उनका पूरा विवरण लिखने का तो अभी तक समय ही नहीं था।

**अधूरी सफलता; चिन्ताजनक कार्य** अस्तु, १५ अगस्त १९४७ को हमने राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त की। पर इसकी जैसी खुशी होनी चाहिए थी, न हुई; कारण, सफलता अधूरी रही, भारतवर्ष अखंड नहीं रहा। इसके अलावा पाकिस्तान का अलग राज्य बन जाने पर लीग-नेताओं की बन आई, उन्होंने साम्प्रदायिकता का नग्न स्वरूप दिखाया; अल्पसंख्यकों से, खासकर हिन्दुओं और सिक्खों से अमानुषिक व्यवहार किया। इसकी प्रतिक्रिया भारतीय संघ में, और खासकर पूर्वी पंजाब में हो कर रही। यहाँ बदला लेने की भावना ने उग्र रूप धारण किया। लोगों ने कानून अपने हाथ में लेकर मुसलमानों को सताया। शासकों ने यथा-सम्भव उसे दमन किया। फिर भी कितने ही मुसलमान भयभीत होकर अथवा कल्पित प्रलोभनों में फंस कर पाकिस्तान जाते रहे। इस प्रकार लाखों आदमी एक राज्य से दूसरे राज्य में जाकर शरण लेने लगे।

**आबादी का अदल-बदल**—देश भर में घोर अशान्ति, अरक्षा और क्षोभ का वातावरण हो गया। बड़ी घबराहट फैल गई। इसके अलावा भारतीय संघ में मुसलमानों की तलाशी लेने पर जगह-

जगह आधुनिक घातक अस्त्र-शस्त्र भी बड़े परिमाण में मिले। इससे सर्वसाधारण में और भी अतंक छा गया। अनेक मुसलमानों ने यहाँ पहले लीग के झण्डे के नीचे पाकिस्तान का नारा लगाया था। इससे दूसरी जाति वालों के मन में उनके प्रति विरोध-भाव था; अब उनके घरों में छिपे हुए अस्त्र मिलने से उनका रहा-सहा विश्वास भी जाता रहा। कितने ही लेखकों और नेताओं ने यह स्पष्ट राय जाहिर की कि अल्पसंख्यकों की आबादी की अनिवार्य रूप से अदला-बदली करना ही सर्वोत्तम होगा। यह बात क्रोध या घबराहट की थी, इसमें गम्भीरता या व्यवहारिकता न थी। माना कि कुछ मुसलमानों का बर्ताव बहुत ही आपत्तिजनक था; ऐसे आदमियों को राज्य के कानून के अनुसार दण्ड दिया जाय, साम्प्रदायिकता का जहर फैलानेवाली लीग आदि संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। परन्तु सभी मुसलमानों से, जिनमें अनेक निर्दोष हैं और नागरिक कर्तव्यों का ठीक पालन करते हैं, अंधाधुंध अपराधियों का सा व्यवहार करना कैसे उचित या न्यायानुकूल कहा जा सकता है!

आबादी की अदला-बदली की राय देनेवालों ने गम्भीरतापूर्वक यह नहीं सोचा कि सैकड़ों वर्ष साथ रहने के कारण भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों का जीवन, रहनसहन, और कारोबार आदि इस तरह हिल-मिल गया है कि इस देश के किसी हिस्से से एक धर्मवालों को निकाल बाहर करना दूसरे धर्मवालों के लिए बहुत असुविधाजनक और हानिकर होना अनिवार्य है। पाकिस्तान से कुछ हिन्दुओं और सिक्खों को चले आने के लिए मजबूर करने से पाकिस्तान के बहुत से रोजगार चौपट हो गए, व्यापार बहुत घट गया, खेती को बड़ा नुकसान पहुँचा; इस प्रकार उसे भारी आर्थिक हानि उठानी पड़ी। इसी तरह भारत की बात लें। बनारस के रेशम और बनारसी साड़ियों की तथा मुरादाबादी बर्तनों की दुकानें सब हिन्दुओं की हैं और कारीगर सब-के-सब मुसलमान हैं। "कश्मीर में लकड़ी, ऊन, रेशम, सोने चाँदी और दूसरी तरह की

कारीगरियाँ १०० पीछे ६०, मुसलमानों के हाथ में हैं, पर कारोबार का बहुत बड़ा हिस्सा हिन्दुओं के हाथ में है। हिन्द में लाखों ऐसे मुसलमान हैं, जिनके बुने हुए और रंगे हुए कपड़े बहुत सुन्दर होते हैं, लेकिन सूत हिन्दुओं की मिलों से आता है, या हिन्दू और मुसलमान दोनों के काते हुए सूत को काम में लाया जाता है। लखनऊ के मिट्टी के खिलौने की नजाकत और सुन्दरता दूसरी जगह नहीं मिलेगी, उनके भी बहुत से बेचनेवाले हिन्दू हैं और बनानेवाले मुसलमान।"*

आबादी की अदल-बदल से होनेवाली हानि को रोकने के लिए म० गांधी ने अपनी पूरी शक्ति लगाई। आपने जहाँ-तहाँ क्षुब्ध जनता को समझाया और धीरज बंधाया! १२ नवम्बर को कुरुक्षेत्र में ठहरे हुए शरणार्थियों को रेडियो-संदेश देते हुए आपने कहा था "मैं यथाशक्ति इस बात की कोशिश करूँगा कि भारत और पाकिस्तान के सारे शरणार्थी फिर सम्मान और सुरक्षा के साथ उन स्थानों में लौट जायँ, जहाँ से उन्हें खदेड़ दिया गया है। जब तक मैं जीवित रहूँगा, इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए अपना उपाय जारी रखूंगा। जो मर चुके हैं, उन्हें हम जीवन प्रदान नहीं कर सकते, किन्तु जो जीवित हैं, उनके लिए हम अवश्य ही कोशिश करेंगे। यदि हम ऐसा नहीं करते तो भारत और पाकिस्तान के नाम पर सदा के लिए कलंक का धब्बा लग जायगा, और इसमें दोनों का विनाश निहित है।"

**शरणार्थियों का सवाल**—राष्ट्र-पिता म० गांधी तथा अन्य गम्भीर नेताओं और कार्यकर्ताओं के प्रयत्नों के फल-स्वरूप भारतीय संघ और पाकिस्तान के राज्यों की आबादी के अदल-बदल की बात पर बहुत नियंत्रण रहा। फिर भी पाकिस्तान के दुर्व्यवहार से भारत-सरकार के सामने शरणार्थियों का प्रश्न बड़े विकराल रूप में उपस्थित

---

* 'नया हिन्द' में प्रकाशित श्री रघुपतिसहाय एम० ए० के लेख से।

हो गया। लाखों आदमी यहाँ आने के लिए लालायित थे, वे अपना घर-बार छोड़ चुके थे। लूट-मार, चोरी और कत्ल करनेवाले पाकिस्तानियों के बीच में से उन्हें सुरक्षित रूप में भारत लाना बहुत कठिन था। अनेक आदमियों की, रास्ते में ही सब सम्पत्ति छिन गई और बहुतों ने तो सर्दी और भूख से अथवा आततायियों के आक्रमणों से अपने प्राण ही गँवा दिए। जो आदमी यहाँ आ सके, उनके भोजन-वस्त्र, मकान आदि की व्यवस्था करनी थी, उन्हें जल्दी-से जल्दी उचित स्थान में बसाकर योग्य काम-धंधे में लगाना था। भारत-सरकार बड़े धैर्य से तथा करोड़ों रुपए का व्यय-भार सहते हुए इस समस्या को हल करने में लगी। प्रान्तीय और रियासती सरकारों तथा सर्वसाधारण जनता ने इस काम में भरसक योग दिया। तो भी अभी बहुत काम करना शेष है।

**शरणार्थियों का कर्तव्य**—शरणार्थियों के हितार्थ भारत-सरकार, प्रान्तीय सरकारों तथा रियासतों ने जो कार्य किया है, वह किसी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता। भारतीय जनता ने भी उनसे यथेष्ठ-सहानुभूति का परिचय दिया। यद्यपि कहीं-कहीं उन्हें बहुत कष्ट उठाने पड़े, और अब भी उठाने पड़ रहे हैं, कुल मिलाकर देखने से यह स्वीकार करना होगा कि इस विषय में अच्छी प्रगति हुई है। हाँ अब आवश्यकता है कि शरणार्थी स्वावलम्बी होने का प्रयत्न करें; पराव-लम्बन से बहुत समय काम नहीं चल सकता, फिर इससे मन में हीनता की भावना बढ़ती है, जो मनुष्य के विविध गुणों का ह्रास करती है और विकास में बाधक होती है। शरणार्थियों को चाहिए कि शहरी जीवन के मोह में न पड़ें; शहरों में स्थान की तंगी है, और नौकरी आदि आजीविका के कार्य बहुत परिमित ही हैं। इसलिए शरणार्थियों को गांवों में बसना चाहिए और खेती तथा गृहोद्योगों को अपनाना चाहिए। उन्हें स्वयं अपने रहने के लिए सादे कामचलाऊ मकान बनाने चाहिएँ। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शरणार्थी जिन

लोगों के साथ रहें, उनसे मिल-जुल कर प्रेम-पूर्वक रहें, इनसे पड़ोसियों को कोई कष्ट न पहुँचे. वरन ये सद्व्यवहार से उनके लिए अच्छे उपयोगी साबित हों नागरिक जीवन का स्तर ऊँचा करने में सहायक हों। अस्तु, आशा है, शरणार्थियों की समस्या थोड़े समय में हल हो जायगी।

+ + +

**रियासतों की बात**—अँगरेजों ने भारत छोड़ते समय ५६२ राजाओं को उनकी रियासतों की सर्वोच्च सत्ता सौंप कर भारतीय स्वतंत्रता की स्थिति बहुत ही नाजुक कर दी थी। कुछ राजा अपनी-अपनी स्वतंत्रता का स्वप्न देखने लगे। किसी-किसी की आकांक्षा तो दिल्ली तक में अपना झंडा फहराने की थी और वे उसे चरितार्थ करने के लिए कूटनीतिक उपाय काम में लाए। इस सम्बन्ध में नवाब भोपाल का रुख बहुत क्षोभजनक रहा। उनके प्रभाव में आकर इन्दौर महाराज भी कुछ समय बहुत डांवाडोल रहे। त्रावणकोर में प्रधान मंत्री सी० पी० रामास्वामी ने भी 'स्वतंत्रता' की बात उठाई। कश्मीर ने ढील-ढाल की, तथा जूनागढ़ और हैदराबाद ने तो कुछ संघर्ष भी मोल लिया। पर अन्त में भारतीय संघ के क्षेत्र के सब राज्य इस देश में शामिल हो गए; उन्होंने रक्षा, वैदेशिक मामले, और यातायात का विषय भारत-सरकार को सौंप दिया। इस 'रक्तहीन क्रान्ति' का बहुत कुछ श्रेय रियासती विभाग के अध्यक्ष श्री सरदार पटेल को है।

**रियासतें और राष्ट्रीय एकता**—ऊपर रियासतों के भारतीय संघ में प्रवेश करने की बात कही गई। पर राष्ट्रीय एकता के लिए यही काफी नहीं था। ज़रूरत थी कि रियासतों की शासनपद्धति को उत्तरदायी और लोकतन्त्रात्मक बनाकर सारे भारतवर्ष को समान वैधानिक स्तर पर लाया जाय। रियासती जनता बहुत समय से उत्तरदायी

शासन के लिए आन्दोलन कर रही थी। * १५ अगस्त १९४७ को अँगरेजों के भारत छोड़ने पर रियासतों में जन-आन्दोलन ने और भी ज़ोर पकड़ा। अब भारत-सरकार की इससे सहानुभूति होना स्वाभाविक ही थी, पर उसकी यह नीति भी नहीं थी कि राजाओं की सत्ता समाप्त कर दी जाय। उसका लक्ष्य यह रहा कि रियासतों में उत्तरदायी शासन स्थापित होने के साथ आवश्यकतानुसार राजाओं का अस्तित्व और निजी अधिकार बने रहें।

रियासतों में प्रजातन्त्री शासन स्थापित करने में सबसे बड़ी बाधा यह थी कि रियासतों की संख्या दस-बीस नहीं, लगभग छः सौ थी; अधिकांश रियासतें तो मामूली गाँव सरीखी थीं, बहुत सी रियासतों का क्षेत्रफल, जनसंख्या और आय अच्छे शासन की सुविधा की दृष्टि से काफी नहीं थी। इसका विचार करके स्वतंत्र भारत-सरकार ने रियासतों को प्रान्तों में मिलाने, या उनके संघ बनाने आदि की योजना हाथ में ली। इस विषय में रियासती कार्यकर्ताओं तथा राजाओं से मिलकर समझौते का रास्ता निकालने और योजना को अमल में लाने में सरदार पटेल ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया।

**महत्वपूर्ण-कार्य**—उड़ीसा, मध्यप्रान्त-बरार, बिहार, मदरास, संयुक्तप्रान्त, पूर्वी पंजाब और बम्बई की कुल मिलाकर लगभग सवा दो सौ छोटी-छोटी रियासतें अपने पास के प्रान्तों में मिल गईं। बड़ौदा की रियासत ने, बड़ी होने पर भी बम्बई प्रान्त में मिलना स्वीकार किया। जो रियासतें पास होने के अलावा ऐसी थीं कि उन्हें मिलाकर शासन की दृष्टि से एक स्वावलम्बी संघ बन सकता था, उनके राजाओं से विचार-विनिमय और समझौता करके ये संघ बनाए गए हैं—(१) सौराष्ट्र-संघ, (२) मध्यभारत संघ, (३) कोचीन-त्रावणकोर संघ, (४) विन्ध्य प्रदेश, (५) पटियाला और पूर्वी पंजाब रियासती संघ और (६)

* इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन हमारी, देशी राज्यों की की जन -जागृति, में किया गया है।

संयुक्त राजस्थान। ऐसी रियासतें जो अपने विस्तार, जनसंख्या और साधनों के बल पर अलग-अलग शासन की इकाई बन सकती थीं, केवल तीन रह गई हैं—मैसूर, हैदराबाद और कश्मीर। इनमें से कश्मीर के सम्बन्ध में पाकिस्तान से झगड़ा चल रहा है, जो इस समय संयुक्त राष्ट्र-संघ में विचाराधीन है। निम्नलिखित रियासती क्षेत्रों में भारत सरकार की ओर से चीफ-कमिश्नर आदि प्रबन्ध कर रहे हैं—हिमालय प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश, बिलासपुर, भोपाल और कच्छ। अस्तु, अब रियासतों और रियासती संघों को संख्या अंगुलियों पर गिनी जा सकती है। जब हम यह सोचते हैं कि अब से तीन वर्ष पहले तक इस देश में ५६२ रियासतें थीं, तो हम इस दिशा में होनेवाले परिवर्तन का कुछ ठीक अनुमान कर सकते हैं।

**रियासतों और प्रान्तों का भेद मिटाना**—शासन-व्यवस्था की दृष्टि से रियासतों और रियासती संघों को प्रान्तों के दर्जे पर लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। जिन रियासतों का शासन केन्द्रीय सरकार द्वारा होने लगा है, तथा जो रियासतें अपने नजदीक के प्रान्त में मिल गई हैं, उनकी जनता को प्रान्तों की जनता के समान राजनीतिक अधिकार और स्वतंत्रता सहज ही मिल जायगी। शेष रियासती इकाइयों का शासन, बहुत-कुछ प्रान्तों के ही ढंग का बनाए जाने की योजना अमल में आरही है। इस प्रकार देशी राज्यों को शेष भारत के वैधानिक स्तर पर लाया जा रहा है। राजाओं का निजी खर्च निश्चित कर दिया गया है, और उनकी मान-मर्यादा और उत्तराधिकार की गारंटी दी गई है।

रियासतों या रियासती संघों का अस्तित्व कब तक रहेगा, यह तो स्वयं राजाओं के व्यवहार पर निर्भर है। सम्भव है कालान्तर में राज्य बिलकुल न रहें, और राजा बीते हुए युग की कहानी के पात्र रह जायँ। हमें इस विषय की बहस में न पड़कर यही कहना है कि अभी तो देश

के कुछ हिस्सों में राजतन्त्र बना है; ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिए कि देशी राज्यों से भारतीय राष्ट्र के निर्माण और उत्थान में बाधा कम-से-कम हो, और इनके द्वारा इस कार्य में सहायता अधिक-से-अधिक मिले।

× × ×

**भारतीय संघ का उत्तरदायित्व**—भारतीय संघ के सामने कई बड़ी-बड़ी जिम्मेदारियाँ हैं—जनता के भोजन-वस्त्र, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की ऐसी व्यवस्था करनी है कि साधारण-से-साधारण नागरिक को अच्छा जीवन बिताने का अवसर मिले; बेकारी दूर करनी है, खाने-पहनने आदि की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाना है, देश को स्वावलम्बी बनाना, और इसका अन्तर्राष्ट्रीय पद ऊँचा करके इसे संसार की एक सुयोग्य इकाई बनाना है, जिससे यह पीड़ित देशों के उत्थान में आवश्यकतानुसार सहायता करे और सुन्दर विश्व के निर्माण में यथेष्ट योग दे सके।

**जनता के सहयोग और राजभक्ति की आवश्यकता**—इन कार्यों को सरकार तभी कर सकती है, जब उसे जनता का पूर्ण और क्रियात्मक सहयोग प्राप्त हो। इस प्रसँग से यह ध्यान देने की बात है कि पिछले वर्षों हमें एक विदेशी सत्ता से संघर्ष लेना और स्वाधीनता प्राप्त करना था। इसके लिए हमने असहयोग, सत्याग्रह और कानून-भंग का अवलम्बन किया। अब परिस्थिति बदल गई है; अब सरकार हमारी है। हमें अपने पुराने रवैये को छोड़कर नए वातावरण के अनुकूल बनना है। यदि इस समय सरकार का कोई काम हमें ठीक न जँचे तो उसके लिए हमें वैधानिक उपायों को ही काम में लाना चाहिए। क्रान्ति, हड़ताल, सत्याग्रह, तालाबन्दी, प्रत्यक्ष कारवाई, भूख-हड़ताल, और कानून-भंग करना अनुचित होगा। हमें यह अनुभव करना चाहिए कि सरकार हमारे आदमियों की और हमारे प्रतिनिधियों द्वारा

बनी है, और हमें अपनी अटल राजभक्ति द्वारा उसका बल बढ़ाना है, जिससे वह शक्तिशाली होकर यहाँ तथा विदेशों में अपने कर्तव्य को भली भाँति पूरा कर सके। अभी कल तक हमने सरकार से लड़ाई ठानी थी, और अपने भाइयों को लड़ने की शिक्षा दी थी, आज हमें राजभक्ति की बात करनी है।

**मुसलमान भाइयों से**—राजभक्ति की बात मुसलमानों के लिए भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी दूसरे नागरिकों के लिए। जो मुसलमान भारतीय संघ के प्रति पूर्ण राजभक्त नहीं हो सकते, उनका यहाँ से चला जाना ही ठीक है। पर उनकी संख्या बहुत थोड़ी ही होगी। नेक और शुद्ध-हृदय मुसलमान यहाँ निडर रह सकते हैं। बात यह है कि भारतीय संघ की सरकार किसी सम्प्रदाय या दल विशेष की संस्था नहीं है; वह सब नागरिकों का समान रूप से हित चाहती है। मुसलमानों के लिए भी कुछ कर्तव्यों का पालन करना लाजमी है। पिछले दिनों कितने ही मुसलमानों ने अपनी इच्छा से, या ब्रिटिश साम्राज्यशाही द्वारा प्रोत्साहित होकर, राष्ट्रीय प्रगति में बाधा पहुँचाई तथा पंचमांगी या भीतरी शत्रु बनकर घोर अशान्ति और हिन्सा-कांड उपस्थित किए। अब मुसलमानों को ऐसा व्यवहार करना होगा, जिनसे उनकी राजभक्ति या वफादारी का पूरा सबूत मिले। मिसाल के तौर पर उन्हें साम्प्रदायिक विष फैलानेवाले नेताओं की नेतागिरी से मुक्त होना चाहिए, मुसलिम लीग से अपना सम्बन्ध विच्छेद करना और इस प्रति-क्रियावादी संस्था को भंग कर देना चाहिए। 'दो राष्ट्र'-सिद्धान्त को भूल जाना चाहिए, और पाकिस्तान की ओर देखना छोड़ देना चाहिए राज्य के और स्वयं अपने हित के लिए गोहत्या बन्द कर देनी चाहिए। उन्हें हथियार रखने आदि के विषय में राज्य के कानूनों का ईमानदारी से पालन करना चाहिए और हिन्दी तथा देवनागरी को उत्साह और प्रेम से अपनाना चाहिए।

निदान, वे भारतीय संघ को अपना राज्य मानें, यहाँ तक कि

अगर कभी संयोग से पाकिस्तान या कोई भी दूसरी इसलामी ताकत इस राज्य के किसी भाग पर हमला करने का दुस्साहस करे तो वे उस हमले का सामना करने के लिए तैयार रहें ।* ऐसे वफादार नागरिकों की भारतीय संघ यथेष्ट रक्षा और उन्नति करेगा ।

**भारतीय संघ की शासन नीति**— नए संविधान के अनुसार, भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य होगा । सब नागरिकों के अधिकार सुरक्षित रहेंगे, सब को समान सुविधाएँ प्राप्त करने और इच्छानुसार उन्नति करने का हक़ रहेगा कुछ निहित स्वार्थ वाले जमींदार, जागीरदार, पूँजीपति और महन्त आदि ऐसी बातों का प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष में बहुत विरोध करते हैं । इधर पाकिस्तान की नीति और व्यवहार देख कर कुछ आदमी यह कहने लग गए हैं कि 'जैसा व्यवहार पाकिस्तान अपने अल्पसंख्यकों के प्रति करता है, वैसा ही व्यवहार भारतीय संघ को यहाँ के मुसलमानों के प्रति करना चाहिए ।' परन्तु हम समझें कि ऐसी नीति से तो भारतीय संघ और पाकिस्तान राज्य आपस में लड़कर एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयत्न करेंगे, और किसी तीसरी शक्ति को हमें फिर गुलाम बनाने का अवसर मिलेगा । इस लिए यह जरूरी है कि भारतीय संघ अपनी शासन-नीति निर्धारित करने में पाकिस्तान की तरफ न देख कर अपनी महान परम्परा और ऊँचे आदर्श तथा सिद्धान्तों को सामने रखे । तभी उसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और दूसरी शक्तियों का अधिक-से-अधिक समर्थन और सहयोग मिलेगा और वह एक शक्तिशाली राज्य बनेगा ।

**हिन्दू-राज्य-स्थापना की बात**—कुछ हिन्दू नेता और संस्थाएँ देश विभाजन और उसके बाद की संकटपूर्ण परिस्थिति की ओर

* सितम्बर १९४८ में जब भारतीय संघ को अपनी सेनाएँ हैदराबाद में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए भेजनी पड़ीं तो यहाँ के मुसलमानों ने भारत सरकार के काम की सराहना की, तथा हैदराबाद के रज़ाकारों और उनके समर्थक मुसलमान नेताओं का स्पष्ट विरोध किया ।

इशारा करके देश में हिन्दू-राज्य स्थापित करने का नारा लगा रही हैं। प्राचीन और मध्यकाल में हिन्दू शासकों ने 'राम-राज्य' के अनेक उदाहरण उपस्थित किए, अब भी वैसे शासकों का सर्वथा अभाव नहीं है, पर उपर्युक्त नेता और संस्थाएँ, जिस हिन्दू राज्य का नारा लगाती हैं, उसे ये 'राम-राज्य' कहने का साहस नहीं कर सकतीं। तो क्या उनका हिन्दू राज्य ऐसा ही होगा, जैसा अनेक देशी रियासतों में रहा है, जिसमें जनता को ज़रा भी स्वतन्त्रता की हवा नहीं मिलती थी ? क्या हिन्दू राज्य से जाटिस्तान, सिक्खिस्तान, अछूतिस्तान आदि की भावनाओं को प्रोत्साहन न मिलेगा ? क्या एक तिरंगे झंडे की जगह विभिन्न जातियों के अलग-अलग भेद-भाव सूचक झंडे को नहीं अपनाया जायगा ? क्या निरंकुश राजाओं, जागीरदारों और जमींदारों तथा लोभी सेठ साहूकारों को अभयदान नहीं मिल जायगा ? क्या किसानों और मजदूरों का शोषण नहीं होता रहेगा ? क्या शूद्रों को मानवोचित नागरिक अधिकारों से वंचित नहीं रहना पड़ेगा, और क्या ऊँची जाति वालों को अपनी प्रभुता बनाए रखने का आजन्म अधिकार न मिल जायगा ? इसके अलावा, हिन्दू राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में क्या महत्व रहेगा !

विचार कर देखा जाय तो हिन्दू राज्य की भावना भारतीय संघ के लिए एक बड़ा खतरा है। "हिन्दू राज्य के अन्तर्गत धार्मिक संस्थाओं, मठों और पूँजीवाद में जो गठबन्धन स्थापित होगा, वह देश में समाजवादी व्यवस्था के लिए सब से बड़ा रोड़ा बन जायगा। देश के प्राकृतिक एवं औद्योगिक साधनों को विकसित कर आम जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की जो अनेक योजनाएँ हैं, उन्हें सदा के लिए बन्द कर देना होगा। कांग्रेस ने जनता में जो राजनीतिक जागृति और नागरिक मूल अधिकारों के सम्बन्ध में प्रचार किया है, वह हिन्दू संगठन के नाम पर समाप्त कर दिया जायगा।"

यही नहीं, "एशियाई देशों में भारत को आज जो मान प्राप्त है

और अन्य राष्ट्र उसके नेतृत्व की जो उपेक्षा करते हैं वह असफल सिद्ध होगा एशियाई राष्ट्र विभिन्न धर्मावलम्बियों के देश हैं। जिस दिन भारत अपने आपको हिन्दू राष्ट्र घोषित कर देगा, उनसे उनका सम्बन्ध टूट जायगा। आज जो इस राज्य में एशियाई संस्कृति की एकता का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता है वह समाप्त हो जायगी। इससे केवल इसी राज्य की हानि नहीं होगी, एशियाई एकता को भी गहरी चोट पहुँचेगी।"*

**कार्यकर्ताओं की आवश्यकता**—एक बात की ओर पाठकों का ध्यान और दिलाना है। बहुत समय पराधीन रहने से हमारी यह आदत पड़ गई है कि राजप्रबन्ध की हरेक त्रुटि के लिए सरकार को दोष दिया करें। अब परिस्थिति बदल गई, हमारी सरकार कायम हो गई। पर हमारी आदत अभी नहीं बदली। आवश्यकता है कि अब बात-बात में सरकार की आलोचना न करके, हम विविध दोषों को यथा-सम्भव दूर करने का प्रयत्न किया करें। स्वाधीनता प्राप्त होने पर हमारी जिम्मेदारी बहुत बढ़ गई है। पहले हमें खासकर एक ही काम करना था—विदेशी सत्ता को हटाना; अब तो नागरिक जीवन और शासन सम्बन्धी सभी कामों की ओर ध्यान देना है। आवश्यकता है दलबन्दी और नेतागिरी की भावना हटाकर शुद्ध हृदय से, लोकतन्त्रवादी समाज के निर्माण में जुट जायँ। चुपचाप त्याग और सेवा-भाव से काम करनेवालों की इस समय अत्यन्त आवश्यकता है।

—:-:—

---

* 'शुभचिन्तक'—दीपावली-विशेषांक, १९४७, में प्रकाशित प्रो० डी० एस० नाग, एम. काम. के लेख से।

## सतरहवाँ परिच्छेद

# देश-रक्षा

—:-:—

*हम युद्ध नहीं चाहते। पर हमारे न चाहने पर भी युद्ध होंगे, क्योंकि वह तो पूँजीवादी साम्राज्य-पद्धति में अन्तर्निहित है। केवल शुभेच्छाओं से जातियों के भाग्य का निर्णय नहीं होता।*

*—मन्मथनाथ गुप्त*

**स्वाधीनता और देश-रक्षा**—अब हम स्वाधीन हो गए हैं। स्वाधीनता को बनाए रखने के लिए एक मुख्य आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय संघ की भीतरी तथा बाहरी सुरक्षा की यथेष्ट व्यवस्था हो। देश-रक्षा का दायित्व स्वयं हम पर है। उसके लिए दूसरों की सहायता ताकना अनुचित है, अपमानजनक है। यह ठीक है कि हम किसी देश की आजादी छीनना नहीं चाहते, इसलिए संसार के बहुत से राष्ट्रों से हमारी मित्रता होगी और हमें सैनिक व्यवस्था की बहुत चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। तो भी भारत माता के सुपुत्र कहलानेवाले हर आदमी का कर्त्तव्य है कि जरूरत होने पर वह देश के लिए अपने प्राण न्योछावर करने को तैयार रहे। इसके वास्ते जरूरी है कि देश-रक्षा सम्बन्धी व्यवहारिक शिक्षा की यथेष्ट व्यवस्था हो।

**आन्तरिक सुरक्षा का सवाल**—यदि राज्य के सब नागरिक अपने कर्तव्यों का टीक-ठीक पालन करें तो आन्तरिक सुरक्षा का प्रश्न बहुत चिन्ताजनक नहीं होता। चोरी-डाका आदि डालने की प्रवृत्ति इने-गिने व्यक्तियों में ही होती है और देश में भोजन-वस्त्र और नैतिक

शिक्षा की यथेष्ठ व्यवस्था होने पर उनकी संख्या और भी कम रहती है। साधारण पुलिस द्वारा उनका सहज ही नियंत्रण किया जा सकता है। परन्तु जब कि देश में पांचवें दस्ते के आदमी या भीतरी शत्रु मौजूद हों तो आन्तरिक सुरक्षा का प्रश्न जटिल रूप धारण कर लेता है। दुर्भाग्य से मुसलिम लीग ने गत वर्षों में जो साम्प्रदायिक विष फैलाया, उससे यहाँ बहुत विकट परिस्थिति पैदा हो गई। पाकिस्तान की स्थापना होने पर स्थान-स्थान पर कुछ मुसलमानों के घरों में बड़े परिमाण में शस्त्रास्त्र मिले, पुलिस की नौकरी करते हुए अथवा अन्य जिम्मेदारी के पदों पर रहते हुए कितने ही मुसलमानों ने अपने कर्तव्यों की अवहेलना की और कुछ दशाओं में तो नागरिकों को जानबूझ कर संकट में डाला, राज-भक्ति की शपथ लेकर भी विश्वासघात किया। उससे यहाँ इस बात की प्रबल आशंका हुई थी कि भारत में रहनेवाले लीगी मुसलमान तथा पाकिस्तान से आनेवाले मुसलमान भारत की आन्तरिक अशान्ति के लिए खतरा हैं; वे यहाँ के मुसलमानों को छिपे-छिपे भड़काते रहेंगे, इस प्रकार यहाँ समय-समय पर कुछ उपद्रव होता रहेगा। पीछे साम्प्रदायिक वातावरण में क्रमशः सुधार हुआ, और लीगियों का ज़ोर कम हुआ तो यह आशा होने लगी थी कि अब इस विषय की चिन्ता नहीं रहेगी। परन्तु पीछे की घटनाओं ने फिर पुरानी आशंका को जागृत कर दिया है।

जुलाई सन् १९४९ में मालूम हुआ कि भारत सरकार की ओर से प्रान्तीय सरकारों के पास एक गुप्त आदेश भेजा गया था, इसमें भारत के कुछ मुख्य धंधों में काम करनेवाले पाकिस्तानी मुसलमानों के लिए कुछ हिदायतें थीं। यह आदेश पाकिस्तानी पत्रों में ज्यों-का-त्यों प्रकाशित हुआ। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ कुछ आदमी ऐसे हैं, जो पाकिस्तान के जासूस का काम करते हैं, उन्हीं के द्वारा उक्त आदेश की बात पाकिस्तान तक पहुँची है। यह बहुत निन्दनीय है।

अस्तु, दूसरी घटना लें। हैदराबाद के भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री लायक-

अली पुलिस की नजरबन्दी से फरार होगए। इससे शासन की निर्बलता और पुलिस की अयोग्यता तो सिद्ध होती ही है, यह भी स्पष्ट है कि मुसलिम जनता में ऐसे आदमी हैं, जो एक सरकारी अभियुक्त से सहानुभूति रखते हैं और उसे भागने में मदद देते हैं। क्योंकि यदि ऐसे व्यक्ति न होते तो श्री लायकअली खासकर अपनी स्त्री और बच्चों सहित कदापि न भाग सकते।

इस तरह की घटनाओं से यहाँ ऐसा लोकमत बनता और मज़बूत होता है कि ऐसे मुसलमानों को, जिनकी राष्ट्रीयता और राजभक्ति निश्चित रूप से संदेह से परे न हो, ऊंचे और महत्व के पदों पर न रखा जाय। ऐसे विचार को काम में लाने से शासन में साम्प्रदायिकता की भावना बढ़ती है, और अनेक अच्छे और योग्य आदमियों के साथ अन्याय होने की सम्भावना होती है। परन्तु आवश्यकता होने पर सरकार के लिए ऐसा काम करना अनिवार्य हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसा अवसर न आने दिया जाय नागरिकों को इस विषय में सावधान रहना चाहिए, खासकर विचारशील मुसलमानों का इस विषय में विशेष उत्तरदायित्व है। वे सरकार को ऐसा सहयोग प्रदान करें कि यहाँ आन्तरिक सुरक्षा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का खतरा न रहे।

**बाहरी रक्षा; सेना का पुनर्निर्माण** —हमारी पराधीनता की हालत में इस देश की रक्षा ब्रिटिश सरकार ने की। उसने भारतीय सेना का उद्देश्य यह रखा था कि वह उसके साम्राज्य की रक्षा में सहायक हो और आवश्यकता पड़ने पर स्वयं भारतवासियों का भी दमन कर सके। हमारे स्वाधीन होने पर वही सेना उत्तराधिकार रूप में हमें मिली। केवल उसके भरोसे, देश-रक्षा के विषय में, निश्चिन्त रहना ठीक नहीं है। हमें देशभक्तों की नई सेना भी बनानी चाहिए। इस सम्बन्ध में श्री मन्मथनाथ गुप्त के आगे दिए हुए विचार जान लेना उपयोगी होगा—'यद्यपि इस (वर्तमान) सेना के प्रत्येक सैनिक की भर्ती किराए के टट्टू के रूप में हुई थी, पर बाद में इनमें से बहुतेरे

राष्ट्रीय अर्थात् ब्रिटिश-विरोधी विचारों के हो गए, और उनके इस प्रकार बदल जाने के कारण ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भारत छोड़ना पड़ा। फिर भी ये अपने संस्कारों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकते। एक तो इनकी विचार-धारा बदलना और इन्हें पक्का देशभक्त बनाना है। इसके साथ ही दूसरी नई सेना के निर्माण की आवश्यकता है। इस सेना में ये लोग लिए जायँ—(१) पुराने क्रान्तिकारी, (२) कॉंग्रेसी, (३) आजाद हिन्द फौज के लोग, और (४) शिक्षित गरीब श्रेणियों के नवयुवक। इस सेना के अधिकारियों के लिए सभी श्रेणियों में से शिक्षित लोगों का एक कालिज खोला जाय, जिसमें जल्दी-से-जल्दी शिक्षा देकर लोगों को अफसर बना दिया जाय। इन अफसरों में से प्रत्येक के इतिहास की छानबीन करके यह निश्चय करना होगा कि इन में से कोई भी भारतवर्ष के बाहर किसी अन्य राष्ट्र का छिपा भक्त या एजन्ट नहीं है।'*

नवयुवकों में यह भावना भरी जानी चाहिए कि वे सहर्ष सैनिक शिक्षा पावें और आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रहें। राज्य की ओर से इन्हें सैनिक शिक्षा देने और इनके लिए आवश्यक शस्त्रास्त्र बनाने या बाहर से मँगाने का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए।

कुछ युवक ऐसे भी होते हैं, जो अपने राज्य की रक्षा के लिए प्राण न्योछावर करने में तो नहीं हिचकते, पर वे दूसरों के प्रति अहिंसक ही रहना चाहते हैं। ऐसे नवयुवकों के लिए सैनिक शिक्षा अनिवार्य न होकर उन्हें अहिंसा भाव से देश-रक्षा करने की शिक्षा दी जाय। अवश्य ही ये लोग अहिंसा की आड़ में कायरता का परिचय देनेवाले न हों, वरन् कष्ट सहनेवाले, त्यागशील, और सत्याग्रहियों के गुणों से युक्त हों।

**हमारी वर्तमान रक्षा-समस्या**—भारतवर्ष का विभाजन हो जाने से रक्षा की समस्या पहले से अधिक जटिल हो गई। अब

*"सैनिक"—दीपावली-विशेषांक, सन् १९४७।

हमारी पश्चिमोत्तर सीमा प्राकृतिक या स्वाभाविक न रही, कृत्रिम हो गई; वह पंजाब के मध्य में (पूर्वी पंजाब प्रान्त के पश्चिम में) आ गई। इसके आगे पाकिस्तान है। वह इतना समर्थ नहीं है कि पश्चिमोत्तर दिशा से होने वाले रूस के आक्रमण का सामना कर सके, वह तो इंगलैंड और अमरीका के आश्रित रहेगा और उनकी फौजों को अपने यहाँ टिकाएगा। इससे रूस को क्षोभ होना स्वाभाविक है।

इस समय रूस और भारतीय संघ की विदेश-नीति को देखते हुए भारतीय संघ को रूस के आक्रमण को विशेष आशंका नहीं है। हाँ, पाकिस्तान के बारे में जहाँ-तहाँ शंका है। वह भारतीय संघ के अधिक-से-अधिक भाग में अपना अधिकार जमाना चाहता है। उसे अपनी शक्ति का इतना भरोसा नहीं है, पर जैसा कि पहले कहा गया है, वह भारतीय संघ के पंचमांगी (भीतरी शत्रु) मुसलमानों को अपनी ओर मिलाने की आशा करता है। खेद है कि पाकिस्तान से आए हुए तथा यहाँ के लीगी मुसलमानों में से कुछ का व्यवहार अभी तक इस दिशा में आशंकाजनक हो जाता है, परन्तु पाकिस्तान को इसके भरोसे यहाँ सफलता नहीं मिल सकती। अगर उसने भारतीय संघ पर हमला किया तो उसे उसका दुष्परिणाम भोगना होगा। तथापि भारतीय संघ को पूर्वी पंजाब आदि की पश्चिमी सीमा पर यथेष्ट सेना रखना आवश्यक है। इसी प्रकार पश्चिमी बंगाल की पूर्वी सीमा पर हमारी सेनाएँ रहना जरूरी है।

भारतीय संघ को पश्चिमी और पूर्वी समुद्री किनारे से हमले की आशंका नहीं है। हां दक्षिण और दक्षिण-पूर्व की ओर से कुछ शंका अमरीका के हमलों की हो सकती है; कारण, अमरीका इधर अपना आर्थिक प्रभुत्व बढ़ा रहा है, जिसका राजनीतिक प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। अस्तु, स्वतंत्र भारत को इस ओर से सावधान रहना होगा।

**भारतीय संघ और पाकिस्तान दोनों के हित की बात**—पाकिस्तान के अधिकारियों की नीति और व्यवहार को देखकर

भारतीय संघ में उसका सैनिक विरोध करने की बात उठती है। परिस्थितियों की अवहेलना करना उचित नहीं है तथापि यह विचारणीय है कि इस दिशा में हमारी जो प्रगति होगी, पाकिस्तान में उससे भी अधिक उग्र रूप में प्रतिक्रिया होगी। फिर भारतीय संघ उससे बढ़ने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार यह कुचक्र चलता रहेगा। दोनों राज्यों की जो शक्ति राष्ट्र-निर्माण और लोक-हित के कार्यों में लगनी चाहिए, वह विध्वंसक सैनिक प्रयत्नों में ही लगती रहेगी। इससे दोनों राज्यों की शक्ति का ह्रास होगा, बाहरी आक्रमण की आशंका बढ़ेगी, और इन दोनों की स्वाधीनता को भी धक्का पहुँचेगा।

आवश्यकता है कि दोनों राज्य दूसरी बातों में पृथक् रहते हुए भी खासकर अपनी रक्षा-नीति पारस्परिक हित की दृष्टि से निर्धारित करें। इससे किसी की स्वतन्त्रता अपहरण नहीं होगी, क्योंकि अपने आन्तरिक विषयों में दोनों राज्य स्वाधीन रहेंगे! रक्षा के विषय में दोनों राज्यों की मिली-जुली योजना होने से उस शक्ति और द्रव्य की बचत हो जायगी, जो वे अब एक दूसरे के विरुद्ध लगाने की सोचते हैं। यह कोई साधारण लाभ नहीं होगा। इसके अलावा सँयुक्त रक्षा-नीति से ये राज्य विदेशी आक्रमणकारियों का आसानी से सामना कर सकेंगे, और इनकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी।

## अठारहवाँ परिच्छेद

# अखंड भारत

---

*भूगोल, इतिहास तथा परम्पराओं को देखते हुए यह सम्भव नहीं कि पाकिस्तान तथा भारत अधिक समय तक अलग और दुश्मन बने रहें।* *—बालाजी राव जोशी*

पाकिस्तान बनने अर्थात् भारतवर्ष के खंडित होने की बात, कैसी ही बुरी हो, अब हो चुकी है। उसकी आलोचना करते रहने से अब काम न चलेगा। हमें तो विचार यह करना है कि क्या यह विभाजन भारतवासियों के लिए हितकर है; और यदि हितकर नहीं है तो इसे किस प्रकार रद्द किया जाय। पहले यह जानलें कि भारत के विभाजन का, अर्थात् पाकिस्तान बनने का आधार क्या है, और वह कहाँ तक उचित कहा जा सकता है।

**विभाजन का आधार—'दो-राष्ट्र' सिद्धान्त; म० गांधी का विचार**—पाकिस्तान का आधार 'दो-राष्ट्र' सिद्धान्त है। श्री जिन्ना आदि के नेतृत्व में साम्प्रदायिक भावना वाले मुसलमानों ने यह दावा किया कि 'हम मुसलमान होने के कारण हिन्दुओं से एक अलग राष्ट्र हैं, हमारा अपना अलग राज्य होना चाहिए।' स्मरण रहे कि चाहे सारे हिन्दुस्तान में पहले एक छत्र राज्य कम रहा हो, धर्म के नाम पर इस देश का बँटवारा कभी नहीं हुआ। हिन्दू हो या मुसलमान, किसी राजा का राज्य किसी एक ही धर्म या सम्प्रदाय वाला नहीं माना गया।

अस्तु, इस विषय पर सन् १९४४ में म० गाँधी और श्री जिन्ना में बात चीत और पत्र-व्यवहार हुआ था। महात्मा जी ने अपने १५ सितम्बर के पत्र में लिखा था कि 'इतिहास में मुझे इस बात का कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता कि अपना धर्म बदलने वाले लोगों के दल और उनके वंशजों ने एक अलग राष्ट्र बनने का दावा किया हो। अगर इस्लाम के आने के पहले भारत एक राष्ट्र था तो उसकी बहुत सी सन्तानों के धर्म-परिवर्तन के बावजूद वह एक और अखंड रहेगा।'

उसी पत्र में आगे कहा गया था 'विजय के अधिकार द्वारा आप अलग राष्ट्र होने का दावा नहीं करते। आप इस्लाम धर्म स्वीकार करने के आधार पर यह करते हैं। अगर सारा भारत इस्लाम धर्म स्वीकार करले तो क्या दोनों एक राष्ट्र हो जायंगे? क्या बंगाली, उड़िया, आन्ध्र निवासी, तामिल निवासी, महाराष्ट्र के लोग तथा गुजराती आदि अगर इस्लाम धर्म ग्रहण करलें तो अपनी विशेषताएँ छोड़ देंगे। ये सभी राजनीतिक दृष्टि से एक हो गए हैं, क्योंकि सभी एक विदेशी ताकत के अधिकार में हैं। आज वे अपनी पराधीनता को तोड़ फैंकने की कोशिश कर रहे हैं। मालूम होता है कि आपने राष्ट्रवाद की नयी कसौटी बनायी है। अगर मैं उसे मान लूं तो मुझे बहुत से दूसरे दावों को भी मानना पड़ेगा, और ऐसी समस्या का सामना करना पड़ेगा जो कभी हल नहीं हो सकती।'

**इस सिद्धान्त का दोष**—इस प्रकार यह सिद्धान्त गलत है। इस का दोष अच्छी तरह समझने के लिए पाकिस्तान में रहने वाले गैर-मुस्लिम की स्थिति का विचार किया जाय। 'अगर वह पाकिस्तान के सिद्धान्त को मानता है तो उसे अलग धर्म के लिए अलग देश और अलग राज्य का सिद्धान्त मानना पड़ेगा। फिर, उसके लिए यह भी जरूरी हो जायगा कि वह अपने धर्म के लोगों के लिए भी अपना अलग देश और अलग राज्य चाहे। तब वह पाकिस्तान के प्रति निष्ठा कैसे रख सकेगा? अब वह अगर अलग धर्म, अलग राज्य वाले सिद्धान्त

को न माने तो वह पाकिस्तान को मान ही नहीं सकता। यह मूलभूत असँगति केवल तात्विक नहीं है, प्रत्युत वास्तविक है।'*

**विभाजन भारतीय संघ के हिन्दुओं के लिए दुखदायी है**—भारतवर्ष का खंडित होना हिन्दुओं को कितना दुखदायी हुआ है, यह थोड़े से शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। उनका हृदय रो रहा है। हाय विधाता, यह क्या हो गया! ३० मई १६४७ की संध्या-प्रार्थना में म० गांधी ने कहा था कि 'गत वर्ष की १६ मई की घोषणा का एक अल्प-विराम भी नहीं हटाया जा सकता। हमें मुसलमानों से साफ कह देना होगा कि हम एक इंच भी पाकिस्तान मजबूरी से नहीं देंगे। चाहे हम सब नष्ट हो जायँ, सारा हिन्दुस्तान जलकर राख हो जाय, परन्तु पाकिस्तान नहीं मिल सकता।' पीछे ३ जून की ब्रिटिश घोषणा को मान्य करने के उपरान्त वक्तव्य देते हुए पं० नेहरू ने कहा था "मैं प्रसन्नता से इन प्रस्तावों की आप से सिफारिश नहीं कर रहा हूँ। युगों से हम एक स्वतंत्र संयुक्त भारत का स्वप्न देखते आए हैं, और उसके लिए लड़ते आए हैं। देश के कुछ भागों के अलग हो जाने की अनुमति देना अत्यन्त दुखप्रद है। परन्तु मुझे विश्वास है कि हमारा निर्णय सही है।"

**भारतीय संघ के मुसलमानों का विचार**—श्री जिन्ना आदि ने पाकिस्तान की माँग मुसलिम हित के नाम पर की थी, पर इससे मुसलमानों का क्या हित हुआ! चार करोड़ मुसलमान इस समय भी पाकिस्तान से बाहर ही हैं। भारतीय संघ के कुछ मुसलमान बड़ी-बड़ी उम्मीदें लेकर वहाँ पहुँचे थे, पर उन्हें बुरी तरह निराश होना पड़ा। सिन्ध आदि के मुसलमानों ने उनका स्वागत न कर तिरस्कार किया, इस पर उन्हें फटे-हाल अपने घर लौटना पड़ा। उन्होंने पाकिस्तानी नेताओं की बहुत निन्दा की। साधारणतया भारतीय संघ के मुसलमान यह समझने और खुले-आम कहने लग गए हैं कि 'हमें बड़ा धोखा हुआ। जिस पाकिस्तान को बनाने के लिए हमने

* 'श्री० दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय' (अप्रैल १६५०) में।

इतना ज़ोर लगाया था, उस से हमें कुछ लाभ नहीं हुआ; उलटा, हानि ही हुई। पहले हमें वहाँ कई विशेषाधिकार प्राप्त थे, व्यवस्थापक सभाओं आदि में हमारा विशेष प्रतिनिधित्व था, सरकारी नौकरियों में हमारे लिए हमारी आबादी के अनुपात से अधिक स्थान सुरक्षित थे, उर्दू भाषा को अपेक्षाकृत अच्छा महत्व प्राप्त था। अब यह सब बातें जाती रहीं।' इससे स्पष्ट है कि पाकिस्तान से खुद मुसलमानों को भी लाभ नहीं हुआ।

**भारत एक धर्म-निर्पेक्ष राज्य है**—स्वतंत्र भारत का नया सँविधान बन गया है। भारतीय संघ एक धर्म-निर्पेक्ष ('सेक्यूलर स्टेट') राज्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह राज्य ईश्वर को न मानने वाला या धर्म-विरोधी है; धर्म-निर्पेक्ष राज्य ऐसा राजनीतिक ढाँचा होता है, जिसमें सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखा जाता है, और जिसमें सभी नागरिक, उनका धर्म चाहे जो हो, कानून के सामने समान होते हैं! भारतीय सँघ के सब व्यक्तियों को चाहिए कि इस बात, को सदा याद रखें और धर्म-निर्पेक्ष नागरिकता के सिद्धान्त को अपने जीवन में चरितार्थ करें।

**अखंड भारत के समर्थकों का कर्त्तव्य**—अब प्रश्न यह है कि जो सज्जन भारतवर्ष के विभाजन को अत्यन्त हानिकर मानते हैं, जो इस देश को फिर अखंड रूप में परिणत होते देखना चाहते हैं—वे क्या करें। क्या वे विभाजन को पत्थर की लकीर मानकर सिर्फ अपने भाग्य को कोसते रहें? क्या किसी व्यक्ति या संस्था का, अपने कार्य और व्यवहार से, इस विभाजन को स्थायी बनाने में सहायक होना उचित होगा? कदापि नहीं। जैसा कि श्री० बालाजी राव जोशी एम० ए० ने लिखा है—'विभाजन का जातीय आधार देख कर हिन्दू राज्य अथवा मुसलिम राज्य की स्थापना का विचार करना और तदनुसार अपनी अब तक की मनोवृत्ति, विचार तथा कार्य को परिवर्तित करना भारतवर्ष की राष्ट्रीय अखंडता तथा एकता के लिए हानिकर सिद्ध होगा। यदि हम

पिछली अप्रिय घटनाओं को भूलकर पारस्परिक सहयोग और बन्धुभाव के आधार पर न्यायोचित विधान और आदर्श राज्य-प्रणाली कायम करें, तो सम्भव है कि विभाजन का परिणाम धीरे-धीरे कम हो जाय और एकीकरण में मदद मिले। हम भारत के विभाजन का अस्तित्व कृत्रिम और अवास्तविक समझें और पाकिस्तान को भारत का अविभाज्य अंग मानें। आज भारतवासी जनता की आर्थिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक स्थिति सुधारने और उनके जीवन का मान उन्नत करने के लिए ऐसे सैकड़ों कार्यक्रम हैं, जिन पर दोनों भागों का सहयोग और समझौता हो सकता है। तात्पर्य, विभक्त भागों में हर प्रकार से मित्रता-पूर्ण सम्बन्ध रखने की, और दोनों को मिलाकर सम्पूर्ण एकता और अखंडता स्थापित करने की, कोशिश करना राष्ट्र-प्रेमी भारतवासियों का परम कर्त्तव्य है।'*

**भारतवर्ष सब भारतीयों का है**—याद रहे कि अगर कुछ हिन्दू यह कहें कि भारतवर्ष केवल हमारा है, और मुसलमान ईसाई आदि गैर लोग हैं, तो यह बात अनुचित है। यह ठीक है कि हिन्दू (आर्य या द्राविड़) यहाँ बहुत लम्बे अर्से से रहते चले आए हैं, और इस देश को अपनी मातृभूमि या पितृभूमि और धर्म-भूमि मानते हैं। परन्तु यह भी तो विचार करने की बात है कि हिन्दू अब कोई पूरे तौर से शुद्ध जाति नहीं है। इसमें बहुत से हूण, शक यूनानी आदि लोगों की मिलावट है, जो समय-समय पर कई कारणों से, खासकर हमला करने-वाले के रूप में यहाँ आए और पीछे इसी देश के निवासी बने और इसी के प्रति अपनी भक्ति भावना रखने लगे; यहाँ तक कि उन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रखा। इस तरह यह देश उन लोगों का भी उतना ही है, जितना कि हिन्दुओं का।

भारतवर्ष सब भारतीयों का है; भारतीयों में हम उन सब आदमियों को शामिल करते हैं, जो यहाँ स्थाई रूप से रहें, इस देश को अपनी

*'भारत', ता० ३१ अगस्त, १९४७।

कर्मभूमि समझें और इसका हित-साधन शुद्ध सच्चे हृदय से करें। हम हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी, एँग्लो-इंडियन आदि का भेद नहीं मानते। गोरे, काले, पीले—सब रङ्गों, जातियों और धर्मों के आदमियों को बराबर समझते हैं; शर्त यही है कि वे भी इस देश को अपनी मातृभूमि की तरह मानें। अच्छा, क्या यहाँ सवर्णों, जमींदारों, पूँजीपतियों और राजाओं तथा सरकारी पदाधिकारियों का बोलबाला रहेगा? इसका जवाब साफ है, हम शोषण, अत्याचार या दमन नहीं चाहते; चाहे उसे विदेशी करें और चाहे हमारे ही देश वाले करें। हथकड़ी या बेड़ी बुरी है, वह लोहे की हो या सोने की। हिन्दुस्तान उन्हीं लोगों का होगा, जो खुद आजाद या स्वतन्त्र हों, और दूसरों की स्वतन्त्रता के हामी हों, जो दूसरों को नीच माननेवाले, दीन और दरिद्र बनानेवाले न हों। हम उस वर्ग का खत्म हो जाना चाहते हैं, जो दूसरों को नष्ट करने में लगा हो। 'भारतवर्ष भारतीयों का' कहने का अर्थ 'जीओ और जीने दो, ही नहीं 'जीओ और जिलाओ' है। स्वतन्त्रता या अज़ादी, समानता या बराबरी और सहयोग या मिलकर काम करना—उसके मूल तत्व हैं।

**यहाँ फ्रांस और पुर्तगाल की सत्ता का अन्त होना आवश्यक है**—अगस्त १९४७ से भारतवर्ष में ब्रिटिश प्रभुत्व का अन्त हो गया। भारतीय इतिहास की यह एक महत्वपूर्ण घटना है। परन्तु अभी तक भी यहाँ कुछ स्थानों में फ्रांस; और पुर्तगाल की साम्राज्यवादी सत्ताएँ बनी हुई हैं। यह हमारे लिए घोर कलंक की बात है। क्या ही अच्छा होता, यदि भारतवर्ष में अंगरेजों की सत्ता समाप्त होने के साथ ही ये विदेशी सरकारें भी इस देश के निवासियों को अपनी-अपनी अधीनता से मुक्त कर देतीं, परन्तु साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपने आप ऐसा क्यों करने लगीं? अस्तु, स्वतन्त्र भारतीय जनता को तो अपने किसी भाग को पराधीन नहीं रहने देना है।

**'फ्रांसीसी' भारत**—फ्रांस के अधीन भारतवर्ष के पांच नगर

थे—(१) यनाम, (२) माही, (३) कारीकल, (४) पांडेचेरी और (५) चन्द्रनगर। इन सबका क्षेत्रफल २०३ वर्गमील, जनसंख्या सवा तीन लाख, तथा वार्षिक आय तरेसठ लाख रुपए थी। कुछ समय पूर्व इनमें भारत के राष्ट्रीय झंडे का अपमान किया गया। यह भी आशंका रही है कि कहीं अमरीका यहाँ अपना जंगी अड्डा न बनाले। अस्तु, फ्रांसीसी बस्तियों में भारतीय संघ में मिलने का आन्दोलन चल रहा है। पिछले दिनों चन्द्रनगर में जन-मत लिया गया था; भारत के मिलने के पक्ष में ७४७३ मत और फ्रांस के पक्ष में केवल ११४ मत रहे। चन्द्रनगर भारत में मिल गया, अन्य स्थानों का मिलना अभी बाकी है। यहाँ जन-मत के बारे में दो शब्द कहने हैं लोकमत या सर्वसाधारण की भावना का आदर करना ठीक है। परन्तु इस सीधे-सादे मामले में हम जन-मत लेने की कोई जरूरत नहीं समझते; फिर मत-संग्रह में कभी-कभी कैसी कुटिल चालें चली जाती हैं, यह भी कोई रहस्य नहीं है। यदि एक भी फ्रांसीसी नगर में जन-मत की आड़ में फ्रांस की सत्ता बनी रही तो वह भारतवर्ष के लिए भारी खतरा होगा। एक छोटे से फोड़े का विष आदमी की मृत्यु का कारण हो सकता है, यह हमें भूलना न चाहिए।

**पुर्तगाली बस्तियाँ**—पुर्तगाल के अधीन भारतवर्ष के तीन स्थान हैं गोवा, डामन, और ड्यू। इन तीनों का क्षेत्रफल चौदह सौ वर्गमील और जनसंख्या लगभग छः लाख है। इन स्थानों की भारतीय जनता की स्वतन्त्रता की माँग से पुर्तगाली सरकार बहुत उत्तेजित है। नागरिकों का गांधी टोपी पहनना, और भारतीय नेताओं के चित्र रखना तक दंडनीय माना जाता है। यही नहीं, पिछले दिनों पुर्तगाली सरकार ने पाकिस्तान से हथियार आदि हैदराबाद पहुँचाने में बहुत सहायता दी थी। इस प्रकार गोआ का बन्दरगाह भारतवर्ष के लिए कितना खतरनाक हो सकता है, यह स्पष्ट है। इसलिए इन सभी स्थानों में विदेशी सत्ता का अन्त होना आवश्यक है। और नहीं तो राष्ट्रीय सुरक्षा के विचार से ही हम देश के किसी स्थान को विदेशी शक्तियों के हाथों में नहीं छोड़

सकते। यदि पुर्तगाली सरकार शान्ति-पूर्वक 'भारत छोड़ने, को तैयार नहीं होती तो भारतीय संघ को सैनिक कार्यवाही करने के लिए तैयार होना पड़ेगा। यह राष्ट्र के स्वाभिमान का प्रश्न है।

**नेपाल की बात** – इसका क्षेत्रफल ५४ हजार वर्गमील, और जनसंख्या साठ लाख है। अंगरेजों के शासन-काल में इसकी सीमा पर भारत-सरकार का रेज़ीडेन्ट रहता था, उसे इसके आन्तरिक राज-प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने का कुछ अधिकार नहीं होता था। कुछ भारतवासी, खासकर हिन्दू, भारतवर्ष के इस 'स्वाधीन राज्य' का बहुत अभिमान करते रहे परन्तु इस राज्य से देश के स्वाधीनता-आन्दोलन को कुछ बल न मिला, और न इसके भीतर ही प्रजातंत्रवादियों को सुख की नींद मिली। राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं का दमन करते रहकर इस राज्य ने साम्राज्यवादी अंगरेजों से दोस्ती निबाही। सामंतशाही शासन के कारण आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से यह राज्य बहुत पिछड़ा हुआ रहा है। अब इसका स्वतंत्र भारत से वैदेशिक सम्बन्ध हो गया है, और यहाँ भारत का राजदूत रहता है। पर यही काफी नहीं है। आवश्यकता है कि यहाँ जिम्मेदार लोकतंत्रात्मक शासन स्थापित हो और यह राज्य उत्तर में एक बलवान पहरेदार के रूप में भारतवर्ष की सुयोग्य इकाई बने।

**विशेष वक्तव्य**—भारतवर्ष का अर्थ हमने पूर्ण भारतवर्ष ही समझा है। हम पूरे भारतवर्ष की कल्पना करते आए हैं। प्राचीन काल में ठेठ उत्तर में हिमाचल से लेकर दक्षिण में हिन्द महासागर और लंका तक और इसी तरह पश्चिम में काबुल कंधार से लेकर पूर्व में आसाम और ब्रह्मा तक के भूखंड को हमने धार्मिक दृष्टि से एक देश माना है। हम यह स्वप्न देखते रहे हैं कि कभी यह देश राजनीतिक दृष्टि से भी एक होगा। अशोक और अकबर के समय में यह बात कुछ अंश में पूरी हुई। पीछे अँगरेजों ने यहाँ एकता पैदा की परन्तु वह केवल अपने स्वार्थ के लिए। उन्होंने अगस्त सन् १९४७ में यह देश छोड़ा तो एक

श्रोर तो पाकिस्तान का निर्माण करके महान संकट पैदा कर दिया, दूसरे देशी राज्यों की 'स्वतंत्रता' का रास्ता खुला छोड़ने की दुष्टता की। उन्होंने यहाँ साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, अल्पसंख्यकता आदि का भी रोग बढ़ाया। वे फ्रांस और पुर्तगाल वालों से यहाँ से बिदा होने की बात क्यों कहते! इस प्रकार अब हमें भारतवर्ष को अखंड बनाने के लिए विविध समस्याएँ हल करनी हैं।

यह ठीक है कि गत ३० जनवरी १९४८ से हम राष्ट्र-पिता म० गाँधी के नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन से वंचित हैं, जो हमें पिछले तीस वर्ष से बराबर हर दिशा में मिल रहा था। परन्तु महात्मा जी के संदेश अमर हैं, उनसे हमें हमेशा प्रकाश मिलता रहेगा। फिर, जिस भारत-माता ने म० गांधी को जन्म दिया, वह अन्य योग्य व्यक्ति प्रदान करने में असमर्थ नहीं है। देश-काल के अनुसार हमें नया नेतृत्व मिलता रहेगा, उसकी हम चिन्ता न करें; हम तो ईमानदारी से, उदार भावना से, अपना-अपना कर्तव्य पालन करें। हम श्री प्रकाश 'आतुर' की निम्नलिखित पंक्तियां स्मरण रखें :

*उठो, सपूत देश के, पुकारती वसुन्धरा।*
*उठो, चलो, विजयी बनो,*
*परिश्रमी जवान हो।*
*नवीन शंख फूंक दो,*
*महान हो महान हो।*
*उठो सपूत देश के, पुकारती वसुन्धरा।*
*उठो, नवीन राग ले,*
*उठो नवीन चाह ले*
*उठो असंख्य कंठ फिर,*
*नवीन सी कराह ले।*
*उठो सपूत देश के, पुकारती वसुन्धरा।*

———

*

## उन्नीसवाँ परिच्छेद

# विशाल भारत और प्रवासी भारतीय

---

आज जब कि हम स्वतंत्र होकर एक ओर अपनी आन्तरिक समस्याओं को हल करने में लगे हैं, और दूसरी ओर यह सोच रहे हैं कि इस देश का जो शोचनीय विभाजन होगया है, उसे किस प्रकार सौम्य रूप से शान्ति-पूर्वक रद्द करके अपनी अखंड भारत की आकांक्षा की पूर्ति करें, हमें अपने उन प्यारे भाई-बहिनों की, तथा बालक-बालिकाओं की याद आए बिना नहीं रहती, जो हम से दूर, बहुत दूर, रहते हैं, जिनमें से कुछ तो हजारों मील दूर हैं, जिनमें बहुत सों ने भारत भूमि से बाहर ही जन्म लिया और अपना अधिकांश जीवन बिताया है, यहाँ तक कि उन्हें भारत माता के दर्शन का सुअवसर भी प्राप्त नहीं हुआ। ये हमारे प्रवासी भाई-बहिन संसार के विविध भागों में रहते हैं, और भारत को विशाल भारत बनाए हुए हैं।

**प्रवासी भारतीयों की संख्या और स्थान—** प्रवासी भारतीयों के ठीक-ठीक अंक बतलाना कठिन है। बात यह है कि जिन देशों, उपनिवेशों या टापुओं आदि में वे रहते हैं, उन सब में मनुष्य-गणना एक-साथ ही, एक ही समय में नहीं होती। हमारे सामने किसी स्थान के निवासियों की सन् १९४६ की जन-संख्या है, तो किसी स्थान की सन् १९४१, १९३६, १९३२, या १९२० आदि की ही। तथापि प्रस्तुत अंकों से उनका कुछ मोटा हिसाब लग सकता है। भारत और पाकिस्तान के प्रवासियों की कुल जनसंख्या लग-भग चालीस लाख है;

इस में से दस लाख से अधिक वर्मा में रहने वालों की और सात लाख से अधिक लंका में रहनेवालों की है। ये दोनों प्रदेश एक प्रकार के भारत के ही अंग हैं, जो ब्रिटिश कूट-नीति आदि के कारण इस से अलग होगए हैं, जैसे कि हाल में पाकिस्तान अलग हो गया है।

सन् १६४८ ई० की 'इंडयन इयर बुक' के अनुसार मुख्य-मुख्य स्थानों के प्रवासियों की संख्या इस प्रकार है—

| | |
|---|---|
| आस्ट्रेलिया | ४,५४४ |
| कनाडा | १,५०० |
| न्यूजीलैंड | १,२०० |
| दक्षिण अफ्रीका | २,८२,५४६ |
| दक्षिण रोडेशिया | २,५४७ |
| लंका | ७,३२,२५८ |
| ब्रिटिश मलाया | ७,०७,८५५ |
| हांगकांग | १,६०० |
| मारीशश | २,७१,६३६ |
| केनिया | ८४,५६१ |
| उगांडा | २८,५१२ |
| जंजीवार | १६,००० |
| टांगानिका | ३८,५०० |
| जमेका | २६,५०७ |
| ट्रिनिटाड | १,६२,४४५ |
| ब्रिटिश गाइना | १,६८,६२१ |
| फिजी द्वीप | १,३०,००० |
| अदन | ६,४५६ |
| ग्रेनाडा | ५,००० |
| ब्रिटिश होंडूरस | ६,००७ |
| वर्मा | १०,१७,८२५ |

| | |
|---|---|
| ब्रिटिश संयुक्त राज्य | ५ से ६,००० |
| डच ईस्ट इंडीज़ | २७,६३८ |
| श्याम | ५,००० |
| जापान | २५० |
| ईराक़ | २,५९६ |
| पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका | ५.००० |
| मदगास्कर | ७,९४५ |
| संयुक्त राज्य अमरीका | ५,८५० |
| डच गिनी | ४०,७७७ |
| ब्राजील | २,००० |
| योरपीय देशों में (इंगलैंड छोड़ कर) | १,००० |

**प्रारम्भिक कष्ट**—प्राचीन काल में भारतीयों ने चाहे जितनी समुद्र-यात्रा और उपनिवेश-स्थापना की हो, मध्य काल में, इस कार्य में बहुत सी सामाजिक और धार्मिक बाधाएँ रहीं। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में जो भारतीय विदेशों में गए, वे प्रायः वहाँ झूठे प्रलोभनों में फँसा कर लेजाए गए। ब्रिटिश उपनिवेशों में खेती आदि की उन्नति के लिए मजदूरों की आवश्यकता होने पर विदेशों के दलाल यहाँ के गरीब और असहाय आदमियों को तरह-तरह के आश्वासन देकर वहाँ लेगए। वहाँ इन्हें प्रतिज्ञा-बद्ध कुली के रूप में रहना पड़ा। इन्होंने दासता का जीवन बिताया। गोरे मालिकों ने बात-बात में इनके लिए लात-घूंसों, गालियों और हंटरों का उपयोग किया। स्त्रियों की इज्ज़त भी वहाँ सुरक्षित न रही। शिक्षित सभ्य और प्रतिष्ठित आदमी भी वहाँ काले आदमी होने के कारण सार्वजनिक सड़कों, होटलों तथा रेल गाड़ियों में अपमानित किए गए।

**भारतीय जागृति के लिए महान प्रेरणा**—खासकर दक्षिण अफ्रीका में हमारे प्रवासी भाई-बहिनों के कष्ट और अपमान की

कुछ सीमा न रही। अन्त में स्वाभिमानी भारतीयों ने म० गाँधी के नेतृत्व में वहाँ की सरकार के विरुद्ध संग्राम छोड़ दिया। हजारों आदमियों और स्त्रियों ने मातृभूमि की मान-रक्षा के लिए तरह-तरह की यातनाओं का सहर्ष स्वागत किया। जो सत्याग्रह और असहयोग शान्ति और अहिन्सा भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्राण रहे हैं, उनका प्रयोग पहले दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ था। इससे स्पष्ट है कि प्रवासी भारतीयों की दुरवस्था से हमारी जागृति और स्वाधीनता के कार्य में कितनी प्रेरणा मिली है।

**भारत सरकार का कार्य**—भारत स्वाधीन होगया है, पर प्रवासी भारतीय अब भी संकट में हैं। पराधीनता की अवस्था में भी भारत ने अपनी प्रवासी जनता की हित-चिन्तना की है। अब तो वह उनके कष्टों को बिलकुल सहन नहीं कर सकता। भारत-सरकार उन सब देशों की सरकारों से, जहां प्रवासी भारतीय रहते हैं, लिखा-पढ़ी तथा अन्य आवश्यक कारवाई करती रहती है। उदाहरणार्थ सन् १९४६ में जब दक्षिण अफ्रीका की यूनियन सरकार ने 'घेटो कानून' पास किया तो भारत की ब्रिटिश सरकार ने दक्षिण अफ्रीका से व्यापारिक सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार ने भी उस समय तक उस राज्य से व्यापार स्थापित न करने की नीति रखी, जब तक कि वहाँ की सरकार प्रवासी भारतीयों के प्रति ठीक व्यवहार न करने लगे।

**पाकिस्तान सरकार की बात**—खेद है कि पाकिस्तान सरकार इस विषय में भारत-सरकार से यथेष्ट सहयोग नहीं करती। उसने ६ फरवरी १९५० से दक्षिण अफ्रीका से व्यापार-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि उसे प्रवासी भारतवासियों को चिन्ता नहीं। वह अपने स्वार्थ-साधन में रहती है। उसे दक्षिण अफ्रीका से कोयला लेने, और वहाँ अपना जूट बेचने की जरूरत मालूम हुई तो उसने प्रवासी भारतीयों के हित की सहज ही बलि दे डाली। इससे दक्षिण

अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को, खासकर मुसलमानों को बहुत दुःख हुआ। क्या पाकिस्तान-सरकार इसका विचार करेगी, और भारत-सरकार के पक्ष को मजबूत करके प्रवासी भारतीयों के कष्ट-निवारण में सहायक होगी?

**प्रवासी भारतीयों का भारत लौट आना घातक है—** दक्षिण अफ्रीका की सरकार का काम निकल गया; वह चाहती है कि प्रवासी भारतीय अब अपने देश में लौट आवें। यह ठीक है कि जो प्रवासी भाई अपनी इच्छा से भारत लौटना चाहें, उन्हें ऐसा करने दिया जाय। परन्तु उन्हें यहाँ लौटने के लिए मजबूर करने की नीति अनिष्टकारी है। जैसा कि 'प्रवासी' के फरवरी १६५० के अंक में लिखा गया है—'यदि भारत प्रवासी भारतीयों के प्रत्यागमन पर सहमत हो जाता है तो जहाँ वह स्वयं आत्मघात करता है वहाँ प्रवासी भारतीयों का सर्वनाश भी। दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की अढ़ाई लाख की आबादी में ६५ प्रतिशत वहाँ के जन्म-प्रवासी हैं, जिनका भारत के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तक कि उनके बाप दादे किस गाँव और जिले से गिरमिट में भर्ती होकर नेटाल गए थे, यह भी अधिकांश जन्म-प्रवासियों को पता नहीं। इस स्थिति में उनको भारत लाना मानो मछली को पानी से बाहर निकाल कर मरने के लिए छोड़ देना है। महात्मा गाँधी के शब्दों में वे बिचारे जब मातृ-भूमि की गोद में आ जाते हैं और जब अपने गाँवों में पहुँचते हैं तो उनके साथ वही व्यवहार किया जाता है जो स्वस्थ व्यक्ति कोढ़ी के साथ करता है। भारत को इस प्रत्यागमन का बड़ा ही कटु अनुभव हो चुका है। विदेशों से जितने प्रवासी भाई मातृभूमि में आये उनमें से कोई भी सुखी और सन्तुष्ट नहीं रहा। अधिकांश तो यहाँ के प्रतिकूल वातावरण में घुल-घुल कर मर गए।' निदान हम प्रवासी भारतीयों के स्वदेश प्रत्यागमन की नीति का कदापि समर्थन नहीं कर सकते।

**प्रवासी भारतीयों का कर्त्तव्य—** हमारे प्रवासी भाइयों को

दक्षिण-अफ्रीका की सरकार या उसके पिट्ठुओं की भ्रमात्मक बातों में न आना चाहिए। प्रश्न यह है कि जब वहाँ की सरकार द्वारा उन पर तरह-तरह के अत्याचार हों, तो वे क्या करें। उन्हें अपने अधिकार पर दृढ़ता पूर्वक डटे रहना चाहिए। भारतीय राष्ट्रपिता म० गाँधी ने जो सत्याग्रह और असहयोग का मार्ग दिखाया, और दक्षिण-अफ्रीका में ही सर्वप्रथम प्रयोग किया उसी अस्त्र का अब भी प्रयोग होते रहना चाहिए। निश्चय ही यह उपाय कष्ट-सहन का है, और त्याग और तप का है। परन्तु यह भी निश्चय है कि यही मार्ग विजय-प्राप्ति का है। हमारे प्रवासी भाई-बहिनें याद रखें –

*हमें दुख भोगना लेकिन हमारी संतान सुख पावे।*
*यह दिल में ठान लें अपने यहाँ के मर्द-व-जन* पहले॥*
*मुसीबत आ कयामत आ कहां ज़ंजीर-व-ज़ंदा है‡।*
*यहाँ तैयार बैठे हैं, गरीबाने वतन पहले॥*

यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि हमारे प्रवासी भाइयों को भारत और भारतीयों के प्रति वैसा ही प्रेम भाव बनाए रखना चाहिए जैसा आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूजीलैंड आदि के निवासी इंगलैंड के प्रति रखते हैं।

**हमारा कर्त्तव्य**—हमें याद रखना चाहिए कि प्रवासी भाई संसार में हमारी सभ्यता और आदर्शों के प्रचारक और प्रतीक हैं। विदेशों की साधारण जनता भारत की योग्यता का अनुमान वहाँ के मंत्रियों के या राजदूतों के भाषणों से नहीं लगाएगी, वरन् वह अपने-अपने यहाँ के प्रवासी भारतीयों की रोजमर्रा की बातों, आदतों और व्यवहार को देखेगी। इसलिए हमें अपने इन भाइयों की उन्नति के लिए कोई प्रयत्न उठा न रखना चाहिए। मोटे तौर से हमारे करने के कुछ कार्य इस प्रकार हैं:—

* पुरुष और स्त्रियाँ।

‡ हथकड़ी बेड़ी, और ताला (जेल)।

१—स्व० स्वामी भवानीदयाल जी द्वारा स्थापित 'प्रवासी भवन' ( अजमेर ) की उन्नति और विस्तार किया जाय, और इसके नमूने पर अभी भारत की राजधानी में, तथा पीछे क्रमशः अन्य प्रमुख केन्द्रों में प्रवासी आश्रम स्थापित किए जाँय, जिनमें प्रवासी भारतीयों के सम्बन्ध में यथेष्ट साहित्य रहे। पाठकों को मालूम होता रहे कि विदेशों में प्रवासी भारतीय कैसी स्थिति में हैं। वहाँ कौन-कौन व्यक्ति सार्वजनिक कार्यकर्ता के रूप में अच्छी सेवा कर रहे हैं। और उनकी क्या अवश्यकताएँ हैं।

२—प्रवासी भारतीयों के हित को लक्ष्य में रख कर प्रवासी पत्र निकाला जाय। इस नाम का अंगरेजी-हिन्दी मासिक पत्र गत ढाई वर्ष से अजमेर से प्रकाशित होता रहा है। श्री स्वामी भवानीदयाल जी इसके सम्पादन और प्रकाशन के लिए अपने जीवन के अन्त तक घोर परिश्रम करते रहे। आपकी यादगार में इस पत्र को स्थायी आधार पर चलाया जाय। इसका आकार-प्रकार बढ़ाया जाय, और इसे सप्ताहिक किया जाय। इसके तामिल संस्करण का भी आयोजन हो।

३—हमारा प्रवासी भाइयों से यथेष्ट सम्पर्क रहे। हम समय-समय पर उनके उत्थान के लिए वहाँ अच्छे तपे हुए सेवक और कार्यकर्ता भेजें। तथा वहाँ के योग्य और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को यहाँ निमंत्रित कर उन्हें स्थान-स्थान पर भ्रमण करने, और भाषण देने का अवसर दें।

४—प्रवासी भाइयों में जो सम्पन्न हों, और भारत में किसी सार्वजनिक कार्य में धन लगाने के इच्छुक हों, उन्हें इसके लिए प्रोत्साहित किया जाय। इसी प्रकार यदि किसी स्थान पर प्रवासी भारतीयों के लिए आर्थिक सहायता की आवश्यकता हो, तो उसकी व्यवस्था की जाय।

५—भारत-सरकार के विदेश विभाग में प्रवासी भारतीयों का यथेष्ट प्रतिनिधित्व हो। भारत-सरकार को इस विषय में यथेष्ट परामर्श मिलता रहना चाहिए कि उसे प्रवासी भारतीयों के सम्बन्ध में किस देश की सरकार से कैसा व्यवहार करना चाहिए, और संयुक्त राष्ट्र-संघ में क्या कार्य किया जाना चाहिए।

## प्रवासी भारतीयों का प्रश्न विश्व-शान्ति का प्रश्न है

प्रवासी भाइयों के उत्थान का प्रश्न हमारे लिए राष्ट्रीय तो है ही; इसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व भी है। वास्तव में इसके मूल में प्रायः वर्ण-विद्वेष की भावना है। जब तक संसार में रंग-भेद के आधार पर अलहदगी और स्वार्थ-सिद्धि का विचार रहेगा, जब तक गोरे काले, पीले, सब आदमियों में बंधु-भाव स्थापित न होगा जब तक गौरांग जातियाँ रङ्गदार जातियों को अपने से नीचा मानते हुए उन्हें कष्ट देती रहेंगी और उन पर अत्याचार करती रहेंगी, विश्व-शान्ति की समस्या हल नहीं होगी। इसलिए भारतीयों को और प्रवासी भारतीयों को अपने क्षेत्र में रंग-भेद को नष्ट करने में जी-जान से लग जाना चाहिए। इस समस्या के हल करने से वे मनुष्य जाति की प्रगति की एक बड़ी बाधा दूर करेंगे, और विश्व-बंधुत्व की दिशा में क्रियात्मक कदम उठावेंगे।

---

# राजनीति के अन्य प्रकाशन

१—भारतीय शासन—ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि और नवीन भारतीय विधान सहित। दसवाँ संस्करण। मूल्य ३)

२—हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य—अर्थशास्त्र की २६१ और राजनीति की ३२८ पुस्तकों की तथा इन दोनों विषयों के मिश्रित साहित्य की १३५ पुस्तकों का परिचय। मूल्य २)

३—भारतीय जागृति—भारत के पुनर्जागरण का संक्षिप्त इतिहास। भारतवर्ष की साहित्यिक, सामाजिक सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक जागृति का संक्षिप्त इतिहास। मूल्य २॥)

४ भारतीय राजस्व—प्रान्तीय और केन्द्रीय आय-व्यय का लेखा। भारतीय जनता से टैक्स द्वारा तथा अन्य मदों की आमदनी किन-किन मदों में खर्च की जाती है और उसके व्यय की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता का सैद्धान्तिक विवेचन। मूल्य ३)

५—निर्वाचन पद्धति—निर्वाचन की विभिन्न पद्धतियाँ, मताधिकार का महत्व, मतगणना-प्रणाली, निर्वाचकों के कर्त्तव्य, उम्मेदवारों का उत्तरदायित्व तथा निर्वाचन सम्बन्धी विशेष ज्ञान। मूल्य १)

६ राजनीति शब्दावली—राजनीति विषयक हिन्दी-अंगरेजी पर्यायवाची शब्दों का अत्युपयोगी संग्रह। मूल्य २॥)

७—नागरिक शिक्षा—सेना, पुलिस, न्याय, जेल, कृषि, उद्योग-धन्धे, शिक्षा, स्वास्थ्य प्रबन्ध आदि विषयों पर सरल सुबोध भाषा में विचार। मूल्य १॥)

८—राष्ट्र मंडल शासन—इंगलैंड तथा उसके साम्राज्य के स्वतंत्र उपनिवेशों की शासन-पद्धति। आयर्लैंड, भारत, पाकिस्तान और लंका का सम्बन्ध। मूल्य १॥)

९—अपराध चिकित्सा—अपराध, तथा अपराधी के सम्बन्ध में आधुनिक अपराध विज्ञान के सिद्धान्तों का सुन्दर विवेचन। मूल्य १॥)

१०—साम्राज्य और उनका पतन—संसार के महान साम्राज्यों के

उत्थान और पतन का इतिहास तथा उनके कारण। इसका ढङ्ग शुद्ध वैज्ञानिक है। मूल्य २।)

११ – देशी राज्य शासन – भारतवर्ष के देशी राज्यों का ऐतिहासिक परिचय, उनकी शासन पद्धति, राजनैतिक समस्याएँ। मूल्य ३॥)

१२—विश्व-संघ की ओर--संसार में विश्वशान्ति की स्थापना में क्या-क्या बाधाएँ हैं; संसार में महायुद्धों की समाप्ति कैसे हो। मूल्य ३)

१३ — भावी नागरिकों से—जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आदर्श का ध्यान रखते हुए सफलता के रहस्यों का दिग्दर्शन। मूल्य १॥)

१४—इंगलैंड का शासन और औद्योगिक क्रान्ति—इंगलैंड की शासन पद्धति की विशेषताएँ और उसकी औद्योगिक क्रान्ति का भारतवर्ष आदि पर प्रभाव। मूल्य १)

१५ – मनुष्यजाति की प्रगति – इसके भाग ये हैं:—(१) विषयप्रवेश (२) शारीरिक आवश्यकताएँ (३) जीवन निर्वाह (४) सामाजिक जीवन (५) राजनैतिक व्यवस्था (६) मानसिक प्रगति, (७) आर्थिक व्यवस्था (८) समाज व्यवस्था (९) उपसंहार। संसार की महत्वपूर्ण घटनाओं की तालिका। मूल्य ३॥)

१६ – नागरिक शास्त्र—नागरिकों के विविध अधिकारों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक व्याख्या वर्तमान नवीन संविधान में नागरिकों के अधिकारों का महत्व तथा उसकी विवेचना। मूल्य २।)

१७ — देशी राज्यों की जनजागृति--देशी राज्यों की जनता के स्वार्थ-त्याग और कष्ट-सहन का गौरवमय इतिहास। विविध आन्दोलनों और उसके परिणाम-स्वरूप राजनैतिक प्रगति का ऐतिहासिक और राजनैतिक वर्णन। मूल्य ५)

१८—भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन – सन् १८५७ से १९४७ तक स्वतंत्रता प्राप्ति तक की लड़ाई का ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दृष्टि से सूक्ष्म विचार। घटनाओं एवं व्यक्तियों का रोचक वर्णन। मूल्य १।)

# भारतीय ग्रन्थमाला

| | | |
|---|---|---|
| भारतीय शासन ( दसवाँ संस्करण ) | ... | ३) |
| भारतीय विद्यार्थी विनोद (तीसरा सं०) | ... | ॥=) |
| हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ ( ग्यारहवाँ सं० ) | ... | १॥) |
| हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य (दूसरा सं०) | ... | २) |
| भारतीय सहकारिता आन्दोलन ( चौथा सं० ) | ... | ३॥) |
| निर्वाचन पद्धति ( पाँचवाँ सं० ) | ... | १) |
| भारतीय जागृति ( पांचवाँ सं० ) २॥); श्रद्धाञ्जलि | ... | ॥=) |
| राजनीति शब्दावली ( चौथा सं० ) | ... | २॥) |
| नागरिक शिक्षा ( छठा सं० ) | ... | १॥) |
| राष्ट्रमंडल शासन ( चौथा सं० ) | ... | १॥) |
| अर्थशास्त्र शब्दावली ( चौथा सं० ) | ... | २) |
| कौटल्य के आर्थिक विचार ( चौथा सं ) | ... | १॥) |
| अपराध चिकित्सा ( दूसरा सं० ) | ... | २॥) |
| भारतीय अर्थशास्त्र ( पाँचवाँ सं० ) | ... | ५) |
| साम्राज्य और उनका पतन ( दूसरा सं० ) | ... | २॥) |
| देशी राज्य शासन ( दूसरा सं० ) | ... | ३॥) |
| विश्व-सङ्घ की ओर ( दूसरा स० ) | ... | ३) |
| भावी नागरिकों से ( दूसरा सं० ) | ... | १॥) |
| इंगलैंड का शासन और औद्योगिक क्रान्ति | ... | १) |
| मनुष्य जाति की प्रगति | ... | ३॥) |
| गाँव की बात ( दूसरा सं० ) | ... | ॥) |
| नागरिक शास्त्र ( तीसरा सं० ) | ... | २।) |
| देशी राज्यों की जन-जागृति | ... | ५) |
| व्यवसाय का आदर्श | ... | १) |
| भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन | ... | १) |
| भारतीय संविधान और नागरिक जीवन | ... | ४) |
| भारतीय संविधान और प्रशासन | ... | ३॥) |

**भारतीय ग्रन्थमाला, दारागञ्ज, प्रयाग**

केवल कवर—गंगा प्रेस, दारागंज, प्रयाग में छपा ।